अर्हत् वचन

ARHAT VACANA

वर्ष - 12, अंक - 3 जुलाई - सितम्बर 2000

Vol. - 12, Issue - 3 July - September 2000

साम्प्रदायिक सद्भाव के अनूठे केन्द्र - भगवान महावीर केन्द्र
का उद्घाटन 28 फरवरी 99 को प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी बाजपेयी द्वारा किया गया

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

KUNDAKUNDA JÑĀNAPĪṬHA, INDORE

अर्हत् वचन पुरस्कार (वर्ष 11 - 1999) की घोषणा

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर द्वारा मौलिक एवं शोधपूर्ण आलेखों के सृजन को प्रोत्साहन देने एवं शोधार्थियों के श्रम को सम्मानित करने के उद्देश्य से वर्ष 1990 में अर्हत् वचन पुरस्कारों की स्थापना की गई थी। इसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष अर्हत् वचन में एक वर्ष में प्रकाशित आलेखों को पुरस्कृत किया जाता है।

वर्ष 1999 के चार अंकों में प्रकाशित आलेखों के मूल्यांकन के लिये एक त्रिसदस्यीय निर्णायक मण्डल का निम्नवत् गठन किया गया था -

1. **प्रो. आर. आर. नांदगांवकर, पूर्व कुलपति,**
   1472, हसन बाग रोड़, न्यू नंदनवन लेआऊट, नागपुर
2. **श्री सुरेश जैन,** I.A.S.
   30, निशात कालोनी, भोपाल
3. **डॉ. नीलम जैन, प्रधान सम्पादिका - जैन महिलादर्श,**
   के. आई./20, कवि नगर, गाजियाबाद

निर्णायकों द्वारा प्रदत्त प्राप्तांकों के आधार पर निम्नांकित आलेखों को क्रमश; प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पुरस्कार हेतु चुना गया है। ज्ञातव्य है कि पूज्य मुनिराजों.आर्यिका माताओं, अर्हत् वचन सम्पादक मंडल के सदस्यों एवं विगत 5 वर्षों में इस पुरस्कार से सम्मानित लेखकों द्वारा लिखित लेख प्रतियोगिता में सम्मिलित नहीं किये जाते हैं। पुरस्कृत लेख के लेखकों को क्रमश: रुपये 5000/-, 3000/- एवं 2000/- की नगद राशि, प्रशस्ति पत्र एवं स्मृति चिन्ह से निकट भविष्य में सम्मानित किया जायेगा।

प्रथम पुरस्कार : कालद्रव्य : जैन दर्शन और विज्ञान, **11**(3), जुलाई 99, पृ. 23 - 32
कुमार अनेकान्त जैन, शोध छात्र, जैन विश्वभारती संस्थान, लाड़नूं - 341306

द्वितीय पुरस्कार : जैन समाज में नारी की हैसियत, **11**(2), अप्रैल 99, पृ. 9 - 18
आचार्य गोपीलाल अमर, अमरावती, सी - 2/57, भजनपुरा, दिल्ली - 110053

तृतीय पुरस्कार : णमोकार महामंत्र - साधना के स्वर : एक अध्ययन, **11**(3) जुलाई 99, पृ. 49 - 52
डॉ. जयचन्द शर्मा, निदेशक - श्री संगीत भारती, शोध विभाग, बीकानेर - 334007

निकट भविष्य में पुरस्कार समर्पण समारोह इन्दौर में आयोजित किया जायेगा।

देवकुमारसिंह कासलीवाल
अध्यक्ष

डॉ. अनुपम जैन
मानद सचिव

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

I.S.S.N. - 0971 - 9024

अर्हत् वचन
ARHAT VACANA

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ (देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर द्वारा मान्यता प्राप्त शोध संस्थान), इन्दौर द्वारा प्रकाशित शोध त्रैमासिकी

Quarterly Research Journal of Kundakunda Jñānapīṭha, INDORE
(Recognised by Devi Ahilya University, Indore)

वर्ष 12, अंक 3 — जुलाई – सितम्बर 2000
Volume 12, Issue 3 — July - September 2000

मानद् - सम्पादक
डॉ. अनुपम जैन
गणित विभाग
शासकीय स्वशासी होल्कर विज्ञान महाविद्यालय,
इन्दौर - 452 017

HONY. EDITOR
DR. ANUPAM JAIN
Department of Mathematics,
Govt. Autonomous Holkar Science College,
INDORE - 452 017 INDIA

☎ (0731) 464074 (का.) 787790 (नि.), 545421 (ज्ञानपीठ) □ फैक्स : 0731 - 787790
E.mail : Kundkund@bom4.vsnl.net.in

प्रकाशक
देवकुमार सिंह कासलीवाल
अध्यक्ष - कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ,
584, महात्मा गाँधी मार्ग, तुकोगंज,
इन्दौर 452 001 (म.प्र.)

PUBLISHER
DEOKUMAR SINGH KASLIWAL
President - Kundakunda Jñānapīṭha
584, M.G. Road, Tukoganj,
INDORE - 452 001 (M.P.) INDIA

☎ (0731) 545744, 545421 (O) 434718, 543075, 539081, 454987 (R)

लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों के लिये वे स्वयं उत्तरदायी हैं। सम्पादक अथवा सम्पादक मण्डल का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं हैं। इस पत्रिका से कोई भी आलेख पुनर्मुद्रित करते समय पत्रिका के सम्बद्ध अंक का उल्लेख अवश्य करें।

सम्पादक मंडल / Editorial Board

प्रो. लक्ष्मी चन्द्र जैन
सेवानिवृत्त प्राध्यापक - गणित एवं प्राचार्य
दीक्षा ज्वेलर्स के ऊपर,
554, सराफा,
जबलपुर - 482 002

प्रो. कैलाश चन्द्र जैन
सेवानिवृत्त प्राध्यापक एवं अध्यक्ष
प्रा. - भा. इ. सं. एवं पुरातत्व विभाग,
विक्रम वि. वि., उज्जैन,
मोहन निवास, देवास रोड़,
उज्जैन - 456 006

प्रो. राधाचरण गुप्त
सम्पादक - गणित भारती,
आर - 20, रसबहार कालोनी,
लहरगिर्द,
झांसी - 284 003

प्रो. पारसमल अग्रवाल
प्राध्यापक - रसायन भौतिकी समूह,
ओक्लाहोमा स्टेट वि.वि.,
स्टिलवाटर OK 74078 USA

डॉ. तकाओ हायाशी
विज्ञान एवं अभियांत्रिकी शोध संस्थान,
दोशीशा विश्वविद्यालय,
क्योटो - 610 - 03 (जापान)

डॉ. स्नेहरानी जैन
पूर्व प्रवाचक - भेषज विज्ञान,
'छवि', नेहानगर, मंकरोनिया,
सागर (म.प्र.)

Prof. Laxmi Chandra Jain
Retd. Professor - Mathematics & Principal
Upstairs Diksha Jewellers.
554, Sarafa,
Jabalpur - 482 002

Prof. Kailash Chandra Jain
Retd. Prof. & Head,
A.I.H.C. & Arch. Dept.,
Vikram University, Ujjain,
Mohan Niwas, Dewas Road,
Ujjain - 456 006

Prof. Radha Charan Gupta
Editor - Ganita Bharati,
R - 20, Rasbahar Colony,
Lehargird,
Jhansi - 284 003

Prof. Parasmal Agrawal
Chemical Physics Group, Department of
Chemistry, Oklohoma State University,
Stillwater OK 74078 USA

Dr. Takao Hayashi
Science & Tech. Research Inst.,
Doshisha University,
Kyoto - 610 - 03 (Japan)

Dr. Snehrani Jain
Retd. Reader in Pharmacy,
'Chhavi', Nehanagar, Makronia,
Sagar (M.P.)

सम्पादक / Editor

डॉ. अनुपम जैन
सहायक प्राध्यापक - गणित,
शासकीय होल्कर स्वशासी विज्ञान महाविद्यालय,
'ज्ञानछाया', डी - 14, सुदामानगर,
इन्दौर - 452 009
फोन : 0731 - 787790

Dr. Anupam Jain
Asst. Prof. - Mathematics,
Govt. Holkar Autonomous Science College
'Gyan Chhaya', D - 14, Sudamanagar,
Indore - 452 009
Ph.: 0731 - 787790

सदस्यता शुल्क / SUBSCRIPTION RATES

	व्यक्तिगत INDIVIDUAL	संस्थागत INSTITUTIONAL	विदेश FOREIGN
वार्षिक / Annual	रु./Rs. 125=00	रु./Rs. 250=00	U.S. $ 25=00
आजीवन / Life Member (10 वर्षों हेतु)	रु./Rs. 1000=00	रु./Rs. 1000=00	U.S. $ 250=00

पुराने अंक सजिल्द फाईलों में रु. 400.00/ U.S. $ 50.00 प्रति वर्ष की दर से सीमित मात्रा में उपलब्ध हैं।
सदस्यता शुल्क के चेक / ड्राफ्ट कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ के नाम इन्दौर में देय **अरविन्दकुमार जैन,** प्रबन्धक - कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर को ही प्रेषित करें।

वर्ष - 12, अंक - 3, जुलाई - सितम्बर 2000

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

अनुक्रम / INDEX

सम्पादक की कलम से - सामयिक सन्दर्भ 5
□ अनुपम जैन

लेख / ARTICLE

जैन आयुर्वेद - एक परिचय 9
□ शकुन्तला जैन

प्रमुख जैन पुराणों में प्रतिपादित राजा के गुण - दोष 29
□ सरोज चौधरी

The Early Kadambas and Jainism in Karnataka 35
□ A. Sundara

Rightful Exposition of Jainism in the West 47
□ N. L. Jain

Jainistic & Scientific Analysis of Extrasensory Perceptions of Sri Ashok Dutt 55
□ Muni Nandighosh Vijai

जैन आगम में प्राणायाम एवं ध्यान 65
□ पारसमल अग्रवाल

टिप्पणी / SHORT NOTE

जैन धर्म और विज्ञान 67
□ आर. आर. नांदगांवकर

सबका हित किस में है 69
□ राजेश जोशी

पुस्तक समीक्षा / REVIEW

लेश्या एवं मनोविज्ञान द्वारा डॉ. शान्ता जैन 71
□ सरोज कोठारी

अभिवन्दना पुष्प द्वारा निर्मल जैन एवं अन्य (स.) 72
□ कोकलचन्द जैन

आख्यायें / **REPORTS**

ऋषभदेव संगोष्ठी, जम्बूद्वीप - हस्तिनापुर, 21 मई 2000 **73**

□ कृष्णा जैन

जैन धर्म की प्राचीनता पर राष्ट्रीय सेमिनार **75**
जम्बूद्वीप - हस्तिनापुर, 11 जून 2000

□ खिल्लीमल जैन

राष्ट्रीय प्राच्य विद्या सम्मेलन, चेन्नई, 28 - 31 मई 2000 **77**

□ कृष्णा जैन

गतिविधियाँ **79**

मत - अभिमत **85**

अगले अंकों में प्रकाश्य आलेख

Jaina Paintings in Tamilnadu	T. Ganesan
Jainism Abroad	Satish Kumar Jain
The Solar System in Jainism and Modern Astronomy	Rajmal Jain
आधुनिक विज्ञान, 'वर्गणायें' तथा 'निगोद'	स्नेहरानी जैन
आचार्य श्रीधर का गणितीय अवदान	अनुपम जैन, ममता सिंघल एवं प्रशान्त तिलवनकर

ध्यातव्य

1. अर्हत् वचन में जैन धर्म / दर्शन के वैज्ञानिक पक्ष तथा जैन इतिहास एवं पुरातत्व से संबंधित मौलिक, शोधपूर्ण एवं सर्वेक्षणात्मक आलेखों को प्रकाशित किया जाता है।
2. शोध की गुणात्मकता एवं मौलिकता के संरक्षण हेतु दो विश्वविद्यालयीन प्राध्यापकों अथवा पारम्परिक विषय विशेषज्ञों से परीक्षित करा लेने के उपरान्त ही आलेख अर्हत् वचन में प्रकाशित किये जाते हैं।
3. शोध आलेखों के अतिरिक्त संक्षिप्त टिप्पणियां, अकादमिक संगोठी / सम्मेलनों की सूचनाएँ / आख्याएँ, आलेख एवं पुस्तक समीक्षाएँ, विशिष्ट गतिविधियां, विशिष्ट अकादमिक पुरस्कारों एवं प्रकाशनों की सूचनाओं को भी प्रकाशित किया जाता है।

सम्पादकीय पत्र व्यवहार का पता —

डॉ. अनुपम जैन, सम्पादक - अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ,
584, महात्मा गांधी मार्ग, तुकोगंज मेन रोड़,
इन्दौर - 452 001
फोन : (का.) 545421 (नि.) 787790

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

सामयिक सन्दर्भ

आपकी प्रिय पत्रिका अर्हत् वचन का 47 वाँ पुष्प - वर्ष - 12, अंक - 3, जुलाई - सितम्बर 2000 संभवत: जैन संतों की चातुर्मास तिथि आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी तदनुसार दिनांक 15 जुलाई 2000 के पूर्व ही आपके हाथों में पहुँच चुका होगा। इसका उद्देश्य यह है कि वर्षायोग के समय में जब आपके पास अपेक्षाकृत कम व्यस्तता हो तो आप इसे पढ़कर कुछ सकारात्मक निर्णय ले सकें। विद्वत्जन तो सदैव व्यस्त रहते हैं किन्तु उक्त कथन श्रावकों की अपेक्षा से है। हम यहाँ कतिपय सामयिक विषयों पर चर्चा कर रहे हैं।

ऋषभदेव एवं जैन धर्म

*यह हमारा दुर्भाग्य रहा है कि इस बीसवीं शताब्दी में जैन धर्म के बारे में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ प्रचलित रहीं। जैन धर्म को हिन्दू धर्म की एक शाखा मानना या उसे मात्र एक उपासना पद्धति मानना ऐसी ही भ्रांति थी जिसे **राष्ट्रसंत आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज** ने भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव को मनाने की प्रेरणा देकर दूर कराया। 2500 वें निर्वाण महोत्सव (1974) में जैन धर्म एवं भगवान महावीर का विश्वव्यापी प्रचार हुआ तथा जैन धर्म को हिन्दू धर्म से पृथक एक स्वतंत्र धर्म माना जाने लगा किन्तु साथ ही एक विसंगति भी कदाचित पुष्ट हो गई कि भगवान महावीर जैन धर्म के संस्थापक थे। भगवान महावीर के व्यापक प्रचार के कारण जन - जन में यह भ्रांति विकसित हुई। देश की विभिन्न स्तरों की पाठ्यपुस्तकों में यह पढ़ाया जाने लगा कि भगवान महावीर जैन धर्म के संस्थापक थे। कुछ ने यह भी लिखा कि ब्राह्मण वर्ग के क्रियाकाण्डों तथा यज्ञों में होने वाली हिंसा के विरोध में जैन धर्म का उद्भव हुआ।*

*जन - जन में फैलती जा रही इस भ्रांति के प्रति मन में व्यथा तो बहुतों को थी किन्तु परम पूज्य **गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी** ने योजनाबद्ध तरीके से इस भ्रांति के निरसन का बीड़ा उठाया तथा कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर में अपने प्रवास के दौरान 12 मार्च 1996 को यहीं के प्रांगण में इस बात की घोषणा की कि जैन धर्म की प्राचीनता के प्रचार - प्रसार तथा भगवान ऋषभदेव के जनहितकारी संदेशों को विश्वव्यापी बनाने हेतु ऋषभ जयंती 1997 से ऋषभ जयंती 1998 तक जन्म जयंती महामहोत्सव मनाया जाना चाहिये। इस वर्ष में ऋषभदेव के संदर्भ में जन चेतना जाग्रत करने के अनेक कार्य हुए तथा बुद्धिजीवी वर्ग में ऋषभदेव विषयक चर्चाओं को गति देने हेतु तथा विश्वविद्यालयीन केन्द्रों पर ऋषभदेव एवं उनकी परम्परा के साहित्य के अध्ययन एवं अनुसंधान को गति देने के लिये **भगवान ऋषभदेव राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन** का आयोजन किया गया। जिसमें पारित जम्बूद्वीप घोषणा पत्र जैन समाज की एक विशिष्ट उपलब्धि है। इसकी सम्पूर्ण आख्या का प्रकाशन दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर द्वारा किया जा चुका है।*

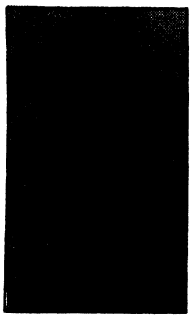

*इस कुलपति सम्मेलन में उपस्थित शताधिक विद्वानों एवं कुलपतियों की सर्वसम्मत अनुशंसा के आधार पर गठित **तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ** की स्थापना*

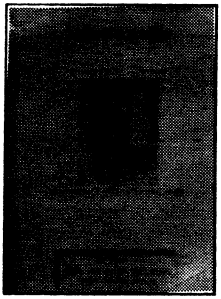

तथा उसके द्वारा प्रकाशित जैन विद्वानों, पत्र-पत्रिकाओं, शोध संस्थानों एवं प्रकाशकों की डायरेक्टरी 'सम्पर्क' जैन विद्या के अध्येताओं में भी पारस्परिक सम्पर्क विकसित करने में नींव का पत्थर साबित हुई है। इसके आगामी संस्करणों में अधिकाधिक जानकारियां जुड़ने और संशोधित होने पर यह एक सन्दर्भ ग्रन्थ का रूप ले लेगी। सम्पर्क की भारी मांग के कारण प्रथम संस्करण समाप्तप्राय है। द्वितीय संस्करण भी अक्टूबर 2000 तक प्रकाशित किये जाने की संभावना है।

गत् 4 फरवरी 2000 को दिल्ली के ऐतिहासिक लाल किला मैदान से भगवान ऋषभदेव अन्तर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव का शुभारम्भ देश के प्रधानमंत्री माननीय श्री अटलबिहारी बाजपेयी ने किया। इस अवसर पर राष्ट्र के नाम अपने संदेश में माननीय प्रधानमंत्रीजी ने कहा कि मेरे सरकारी दफ्तर में जैन धर्म के 23 वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति रखी है। उनका यह कथन भगवान महावीर के जैन धर्म के संस्थापक होने की भ्रांति को सहज ही समाप्त कर देता है क्योंकि महावीर तो उनके परिवर्ती 24 वें हैं। उनके उद्‌बोधन का सम्पूर्ण पाठ अर्हत् वचन, वर्ष 12, अंक-1, जनवरी 2000 के पृष्ठ 91, 92 पर अविकल रूप में प्रकाशित है। महोत्सव वर्ष में अन्य गतिविधियों के साथ ही पाठ्यपुस्तकों में निहित विसंगतियों को दूर करने के लिये व्यापक जन चेतना जाग्रत हुई। डॉ. नीलम जैन-गाजियाबाद, डॉ. सुषमा जैन-सहारनपुर, श्रीमती सुमन जैन-इन्दौर जैसी विदुषी महिलाएँ तो कार्यरत हैं हीं, दिगम्बर जैन सोशल ग्रुप 'नेमिनाथ', इन्दौर ने भी धर्म सभा एवं समाचार पत्रों के माध्यम से एक व्यापक मुहिम छेड़ रखी है। दिगम्बर जैन महासमिति, अ. भा. दिगम्बर जैन महिला संगठन, अ. भा. दि. जैन युवा परिषद, तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ सदृश संस्थाएँ भी अपने-अपने तरीके से सक्रिय हैं। **श्री खिल्लीमल जैन 'एडवोकेट', अलवर** लगभग 2 वर्षों से N.C.E.R.T. तथा अन्य संस्थाओं से इस सम्बन्ध में सतत् सम्पर्क बनाये हुए हैं। परम पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा एवं उनके सान्निध्य में तथा श्री खिल्लीमलजी के संयोजकत्व में जैन धर्म की प्राचीनता पर एक राष्ट्रीय सेमिनार 11 जून 2000 को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में आयोजित किया गया। जिसमें N.C.E.R.T. ने अपने प्रतिनिधि डॉ. प्रीतिश आचार्य को भेजकर तथ्यों की जानकारी प्राप्त की। इस सेमिनार में पारित प्रस्ताव अर्हत् वचन के इसी अंक में पृ. 71, 72 पर प्रकाशित है।

इस सम्पूर्ण चर्चा का सार यह है कि पूरे देश में जैन धर्म की प्राचीनता स्थापित करने तथा भगवान ऋषभदेव के अवदान को स्वीकार करने के निमित्त व्यापक जन जाग्रति आई है और हमें इस जाग्रति का उपयोग तथ्यों की पुनर्स्थापना एवं त्रुटियों के निराकरण हेतु सम्यक् रूप से करना है। प्रो. रामशरण शर्मा एक वरिष्ठ इतिहासकार हैं और वे अनेक इतिहासज्ञों, जैन विद्या के अध्येताओं की भावनाओं, पौराणिक सन्दर्भों को अवश्य आत्मसात करेंगे तथा भारतीय संस्कृति के आद्य प्रणेता भगवान ऋषभदेव के मानवता को दिये अवदान एवं पौराणिक जैन मान्यताओं को भी अन्य धर्मों के समान ही समुचित आदर प्रदान करेंगे। इतिहास की दृष्टि सीमित होती है। फलतः प्रागैतिहासिक विवरणों हेतु हमें किंवदंतियों को ही आधार बनाना पड़ता है। हमें केवल डॉ. रामशरण शर्मा द्वारा लिखित पुस्तक **'प्राचीन भारत'** में ही संशोधन नहीं कराना है अपितु जहाँ-जहाँ, जिन-जिन पुस्तकों में त्रुटियां हैं उन

सब में संशोधन होना चाहिये । इस सन्दर्भ में मुझे रामा पब्लिशिंग हाऊस, बड़ौत से प्रकाशित पुस्तक 'भारत में धर्म और संस्कृति' देखने को मिली। प्रो. एल. एल. शर्मा द्वारा लिखित इस पुस्तक में **'श्रमण संस्कृति एवं कुलकर परम्परा'** शीर्षक विस्तृत आलेख दिया गया है। जिसमें माननीय लेखक प्रो. शर्मा ने अत्यंत सारगर्भित जानकारी निष्पक्ष रूप से दी है। ऐसे आदर्श पाठों को व्यापक रूप से प्रचारित-प्रसारित किया जाना चाहिये। विभिन्न कक्षाओं की दृष्टि से उपयोगी विभिन्न आकार के सम्यक् पाठ तैयार करना तथा उन्हें प्रकाशकों को उपलब्ध कराना भी जैन विद्वानों की जिम्मेदारी है।

रचनात्मक कार्य करने हेतु विवादों से बचना जरूरी

विगत दिनों मुझे महासमिति के राष्ट्रीय महामंत्री श्री माणिकचन्दजी पाटनी के साथ सराकोद्धारक संत, युवा **उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी** का साक्षात्कार लेने का सुअवसर प्राप्त हुआ। सम्पूर्ण साक्षात्कार तो महासमिति पत्रिका में प्रकाशित होगा किन्तु उपाध्यायश्री ने जो दो बातें बहुत महत्वपूर्ण कही उन पर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। **प्रथम** तो यह कि रचनात्मक काम करने वाले को विवाद से बचना चाहिये। विभिन्न मामाजिक मुद्दों पर उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाने की प्रेरणा दी। साथ ही हम लोगों के लिये एक महत्वपूर्ण बात उन्होंने यह कही कि पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव जैसे आयोजनों के साथ तीर्थों के जीर्णोद्धार, जिनवाणी के संरक्षण, संकलन एवं प्रकाशन को जोड़ने का सुझाव दिया। उनकी प्रेरणा से स्थापित **प्राच्य श्रमण भारती** द्वारा विपुल परिमाण में साहित्य का प्रकाशन किया जा रहा है। हमें विश्वास है कि यदि प्रकाशित होने वाली पुस्तकों के अकादमिक परीक्षण, सुसम्पादन आदि की ओर कुछ अधिक ध्यान दिया जाये तो यह संस्था भी भारतीय ज्ञानपीठ की मूर्ति देवी ग्रन्थमाला अथवा जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर की जीवराज जैन ग्रन्थमाला सदृश जिनवाणी की सेवा कर सकेगी। सम्प्रति यहां से प्रकाशित पुस्तकों का मुद्रण स्तर उत्कृष्ट है। वे नयनाभिराम एवं बहुउपयोगी भी हैं।

अर्हत् वचन की विकास यात्रा में दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम ट्रस्ट के अध्यक्ष माननीय **श्री देवकुमारसिंहजी कासलीवाल** एवं अन्य ट्रस्टीगणों का सहयोग अनिर्वचनीय है किन्तु होलकर विज्ञान महाविद्यालय के प्राचार्य तथा इसी महाविद्यालय के गणित विभाग के मेरे साथी प्राध्यापकों का भी सहयोग कम नहीं है जो मुझे पत्रिका सम्पादन में परोक्ष सहयोग प्रदान करते हैं। उनके सहयोग के बिना यह श्रम एवं समय साध्य कार्य सम्भव ही नहीं है। कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ निदेशक मंडल, अर्हत् वचन सम्पादक मंडल के सभी माननीय सदस्यों, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ के सभी कार्यालयीन सहयोगियों के प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जो सामग्री के संकलन, सम्पादन, प्रकाशन एवं पत्रिका के वितरण तक प्रत्येक स्तर पर हमें अपना निस्पृह सहयोग प्रदान करते हैं। इस अंक के सभी माननीय लेखकगण भी बधाई के पात्र हैं जिनके गहन गम्भीर लेखन ने ही पत्रिका को प्रतिष्ठा दी है। पाठकों की रचनात्मक प्रतिक्रियायें सदैव सादर आमंत्रित हैं।

1.7.2000 **डा. अनुपम जैन**

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार

श्री दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम ट्रस्ट, इन्दौर द्वारा जैन साहित्य के सृजन, अध्ययन, अनुसंधान को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर के अन्तर्गत रुपये 25,000=00 का कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रतिवर्ष देने का निर्णय 1992 में लिया गया था। इसके अन्तर्गत नगद राशि के अतिरिक्त लेखक को प्रशस्ति पत्र, स्मृति चिन्ह, शाल, श्रीफल भेंट कर सम्मानित किया जाता है।

1993 से 1998 के मध्य संहितासूरि पं. नाथूलाल जैन शास्त्री (इन्दौर), प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन (जबलपुर), प्रो. भागचन्द्र 'भास्कर' (नागपुर), डा. उदयचन्द्र जैन (उदयपुर), आचार्य गोपीलाल 'अमर' (नई दिल्ली) एवं प्रो. राधाचरण गुप्त (झांसी) को कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है।

1999 के पुरस्कार हेतु प्रविष्टि भेजने की अन्तिम तिथि 30.6.2000 थी। इसके निर्णय की प्रक्रिया चल रही है।

वर्ष 2000 का पुरस्कार **'भगवान ऋषभदेव'** पर लिखित किसी मौलिक प्रकाशित / अप्रकाशित कृति पर दिया जायेगा। कृति में भगवान ऋषभदेव के साहित्य, इतिहास एवं पुरातत्व में उपलब्ध सभी सन्दर्भ मूलत: एवं प्रामाणिक रूप में संकलित होने चाहिये। वैदिक साहित्य के उद्धरणों के प्रामाणिक अनुवाद भी ससन्दर्भ दिये जाना अपेक्षित है। हिन्दी / अंग्रेजी भाषा में लिखित मौलिक प्रकाशित / अप्रकाशित एकल कृति निर्धारित प्रस्ताव पत्र के साथ 30 सितम्बर 2000 तक कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ के कार्यालय में प्राप्त होना आवश्यक है। प्रस्ताव पत्र कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ कार्यालय में उपलब्ध हैं।

देवकुमारसिंह कासलीवाल
अध्यक्ष

डॉ. अनुपम जैन
मानद सचिव

1.7.2000

श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, भावनगर एवं कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर
के संयुक्त तत्वावधान में संचालित

जैन साहित्य सूचीकरण परियोजना

का कार्य प्रगति पर है। अद्यतन 18000 प्रकाशित तथा 12000 पांडुलिपियों की सूचनाएँ कम्प्यूटर पर अंकित की जा चुकी हैं। अपने प्रकाशनों का पूर्ण विवरण एवं उपलब्ध कृतियों की एक-एक प्रति ज्ञानपीठ के कार्यालय में अविलम्ब भिजवायें। आपके मन्दिर या नगर में उपलब्ध जैन पांडुलिपियों की भी सूची भिजवायें।

डॉ. अनुपम जैन
मानद सचिव - कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

वर्ष - 12, अंक - 3, जुलाई 2000, 9 - 27

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जैन आयुर्वेद - एक परिचय

■ शकुन्तला जैन *

सारांश

जैन धर्म विश्व का श्रेष्ठ मानवतावादी धर्म एवं वैज्ञानिक दर्शन है। यह विश्व के प्राचीनतम धर्मों में से एक है। विश्व के प्राचीन उपलब्ध लिपिबद्ध धर्मग्रन्थ **ऋग्वेद**[1] में भी जैन तीर्थंकर ऋषभदेव एवं अनेक जैन मुनियों का उल्लेख प्राप्त होता है। मोहन - जोदड़ों की खुदाई एवं देश के विविध अंचलों में प्राप्त पुरातात्विक अवशेष अत्यन्त प्राचीनकाल में जैन धर्म की उपस्थिति को पुष्ट करते हैं।[2] जैन धर्म की प्राचीनता के साथ - साथ जैन साहित्य भी अत्यन्त प्राचीन है जिसमें हमें धर्म / दर्शन, योग, ज्योतिष, गणित, कला, न्याय, आयुर्वेद आदि विषयों से सम्बन्धित विपुल सामग्री प्राप्त होती है। प्रस्तुत आलेख में जैन आयुर्वेद का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

जैन धर्म एवं आयुर्वेद :-

जैन धर्म अनादि निधन एवं प्राकृतिक धर्म है तथापि इसके मूल प्रवर्तक तीर्थंकर माने जाते हैं, कालक्रम से ये 24 हुए हैं। जिनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव व अंतिम तीर्थंकर महावीर हुए। वर्तमान में प्रचलित जैन धर्म के सिद्धान्त भगवान महावीर के उपदेशों पर आधारित हैं। परम्परा से प्राप्त ज्ञान को जैन मुनियों ने प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुरूप श्रुत रूप में संरक्षित किया था। जैन मतानुसार भगवान महावीर के बाद तीर्थंकरों की वाणी को उनके शिष्यों - प्रशिष्यों ने बारह अंगों (द्वादशांग)[3] के रूप में लिपिबद्ध किया। ये द्वादशांग आगम कहलाते हैं, जैन परम्परा में आगम साहित्य प्राचीनतम माना गया है। जो परम्परा से चला आ रहा है उसे 'आगम' कहते हैं। इस द्वादशांग अर्थात् बारह अंगों में अंतिम अंग 'दृष्टिवाद' है।[4] दृष्टिवाद के पाँच भेद हैं और उन पाँच भेदों में एक भेद पूर्व के अन्तर्गत 'प्राणावाय' (प्राणावाद) है। 'प्राणावाद' में विस्तारपूर्वक अष्टांगायुर्वेद का कथन किया है। आगम प्राकृत भाषा में लिपिबद्ध है। इन आगम ग्रन्थों पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीकायें आदि व्याख्याएँ मिलतीं हैं, जो प्राकृत में हैं।

जैन वाङ्मय में आयुर्वेद का स्वतंत्र स्थान है। बारह अंगों में अंतिम अंग 'दृष्टिवाद' में 'प्राणावाय' एक 'पूर्व' माना गया है, जो वर्तमान में अनुपलब्ध है। स्थानांगसूत्र की 'वृत्ति' में[5] कहा गया है कि दृष्टिवाद में दर्शनों व नयों का निरूपण किया गया है। समवायांग और नंदीसूत्र में दृष्टिवाद के पाँच भेद बताये गये हैं- परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्व, चूलिका। इनमें 'पूर्वों' का अधिक महत्व है। बारहवाँ 'पूर्व' प्राणावाय में मनुष्य के आभ्यान्तर अर्थात् मानसिक और आध्यात्मिक तथा बाह्य अर्थात् शारीरिक स्वास्थ्य के उपायों जैसे यम, नियम, आहार - विहार व औषधियों का विवेचन है। इसमें दैविक, भौतिक, आधिभौतिक, जनपदोध्वंसी रोगों की चिकित्सा का विस्तार से वर्णन किया गया है।[5] प्राणावाय नामक पूर्व में अष्टांगायुर्वेद का वर्णन है। जैनाचार्यों, विद्वानों, इतिहासवेत्ताओं के अनुसार यही आयुर्वेद का मूल है और इसी के आधार पर परवर्ती आचार्यों ने वैद्यकशास्त्र का निर्माण अथवा आयुर्वेद विषय का प्रतिपादन किया।

* व्याख्याता - इतिहास, शासकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, रुनिजा (उज्जैन)। शोध छात्रा - कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जैन साहित्य एवं प्राणावाय परम्परा :-

सामान्य अर्थ में आयुर्वेद शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। 'आयु' व 'वेद'। आयु का अर्थ है जीवन एवं वेद का अर्थ है ज्ञान। अर्थात् जीवित शरीर के संबंध में समग्र ज्ञान आयुर्वेद से अभिहित किया जाता है। जैन आयुर्वेद साहित्य में चिकित्सा विज्ञान को 'प्राणावाय' कहते हैं। प्राणावाय नामक यह 'पूर्व' आज उपलब्ध नहीं है। आयुर्वेद के आठ अंग बताये गये हैं यथा - कायचिकित्सा, शल्य चिकित्सा, शालाक्य तंत्र, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतंत्र, रसायनतंत्र, वाजीकरण तंत्र। चिकित्सा के समस्त विषयों का समावेश इन आठ अंगों में है।[6] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में भी औषधि विज्ञान के रस - वीर्य - विपाक - ज्ञान सहित अष्टांग आयुर्वेद की शिक्षा का उल्लेख है।[7] द्वयाश्रय महाकाव्य में बाल रोगों से संबंधित 'शैशुक्रन्द' नामक आयुर्वेदीय ग्रंथ का उल्लेख मिलता है।[8]

शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध ईसा पूर्व के आचार्य गुणधर द्वारा रचित अत्यंत प्राचीन जैनागम 'कषायपाहुड' पर आचार्य वीरसेन ने 'जयधवला' नामक अपूर्ण टीका लिखी। इसको उनके ही शिष्य आचार्य जयसेन ने ई. 837 में पूर्ण किया। इस टीका में द्वादशांग श्रुत के अन्तर्गत 'प्राणावाय' पूर्व की व्याख्या करते हुए कहा है कि **''प्राणावाय नामक पूर्व दस प्रकार के प्राणों की हानि और वृद्धि का वर्णन करता है। पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दस प्रकार के प्राण हैं। आहारनिषेध आदि कारणों से उत्पन्न हुए कदलीघातमरण के निमित्त से आयु प्राण बल की हानि हो जावे, परन्तु आयु प्राण की वृद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि नवीन स्थिति बंध की वृद्धि हुए बिना उत्कर्षण के द्वारा केवल सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति, कर्म का बंधन करने वाले जीवों के आयुप्राण की वृद्धि देखी जाती है। यह प्राणावाय अष्टांग आयुर्वेद का कथन करता है।''** कषायपाहुड में आयुर्वेद के आठ अंगों का उल्लेख है।[9] गोम्मटसार जीवकाण्ड की गाथा 366 की कर्नाटकवृत्ति में भी इसी प्रकार से प्राणावाय का अर्थ स्पष्ट किया गया है।[10]

श्वेताम्बर परम्परानुसार 'प्राणावाय' का अन्य नाम 'प्राणायु' पूर्व भी है। दृष्टिवाद के इस पूर्व की पदसंख्या दिगम्बर मतानुसार 13 करोड़ और श्वेताम्बर मतानुसार 1 करोड़ 56 लाख थी।[11] मुनि - आर्यिका, श्रावक - श्राविका रूपी चतुर्विध जैन संघ के लिये चिकित्सा उपादेय है। आयुर्वेद में 'प्राणावाय' का विपुल साहित्य प्राचीनकाल में अवश्य रहा होगा। किन्तु अब केवल दिगम्बर जैनाचार्य उग्रादित्य विरचित कल्याणकारक ग्रन्थ ही इस परम्परा के उपलब्ध साहित्य के रूप में है।[12] जैन दृष्टि से आयुर्वेद की उत्पत्ति के संबंध में पं. व्ही.पी. शास्त्री ने उग्रादित्याचार्य कृत कल्याणकारक के सम्पादकीय में लिखा है -[12]

'ग्रंथ के प्रारम्भ में महर्षि ने 'प्राणावाय' शास्त्र की उत्पत्ति के विषय में प्रामाणिक इतिहास लिखा। ग्रंथ के आदि में श्री आदिनाथ स्वामी को नमस्कार किया गया है। तत्पश्चात् प्राणावाय का अवतरण कैसे हुआ और उसकी स्पष्टत: जनसमाज तक परम्परा कैसे प्रचलित हुई इसका स्पष्ट रूप से वर्णन ग्रंथ के प्रस्ताव अंश में किया जो इस प्रकार है -[14]

श्री ऋषभदेव के समवसरण में भरत चक्रवर्ती आदि भव्यों ने पहुँचकर श्री भगवन्त की सविनय वन्दना की और भगवान से निम्नलिखित प्रकार से पूछने लगे -

''ओ स्वामिन! पहिले भोग भूमि के समय मनुष्य कल्पवृक्षों से उत्पन्न अनेक प्रकार के भोगोपभोग सामग्रियों से सुख भोगते थे। यहाँ भी खूब सुख भोगकर तदनन्तर स्वर्ग पहुँचकर वहाँ भी सुख भोगते थे। वहाँ से फिर मनुष्य भव में आकर उसके पुण्यकर्मों को कर अपने - अपने इष्ट स्थानों को प्राप्त करते थे। भगवन! अब भारतवर्ष को कर्मभूमि का रूप मिला है। जो चरम शरीरी हैं व उपवाद जन्म में जन्म लेने वाले हैं उनको

तो अब भी अपमरण नहीं है। इनको दीर्घ आयुष्य प्राप्त है। परन्तु ऐसे भी बहुत से मनुष्य पैदा होते हैं जिनकी आयु नहीं रहती और उनको वात्त, पित्त, कफादि दोषों का उद्रेक होता रहता है। उनके द्वारा कभी शीत और कभी उष्ण व कालक्रम से मिथ्या आहार सेवन करने में आता है। जिससे अनेक प्रकार के रोगों से पीड़ित होते हैं। इसलिये उनके स्वास्थ्य रक्षा के लिये योग्य उपाय बतायें। इस प्रकार भरत के प्रार्थना करने पर आदिनाथ भगवान ने दिव्य-ध्वनि के द्वारा पुरुष लक्षण, शरीर, शरीर के भेदों, दोषोत्पत्ति, चिकित्सा, काल भेद आदि सभी बातों का विस्तार से वर्णन किया।''

इस प्रकार दिव्यवाणी के रूप में प्रकट समस्त परमार्थ को साक्षात् गणधर ने प्राप्त किया। इसके बाद गणधर द्वारा निरूपित शास्त्र को निर्मल बुद्धि वाले मुनियों ने प्राप्त किया। इस प्रकार श्री ऋषभदेव के बाद यह शास्त्र तीर्थंकर महावीर तक चलता रहा।[15]

दिव्यध्वनि प्रकटितं परमार्थजातं साक्षातथा गणधरोऽधिजगे समस्तम्।
पश्चात् गणाधिपते निरूपित वाक्प्रपंचमष्टाधी निर्मलधियों मुनयोऽधिजग्मुः॥
एवं जिनांतर निबन्धनसिद्धमार्गादायातमापतमनाकुलमर्थगाढम्।
स्वायंभुवं सकलमेव सनातनं तत् साक्षाच्छ्रुतश्रुतदलैः श्रुत केवलीभ्यः॥

स्पष्ट है कि तीर्थंकरों ने प्राणावाय परम्परा का ज्ञान प्रतिपादित किया। फिर गणधरों, प्रतिगणधरों, श्रुतकेवलियों, मुनियों ने सुनकर प्राप्त किया।

जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित और अन्य प्राणावायावतरण (आयुर्वेदावतरण) की यह परम्परा आयुर्वेदीय चरक संहिता, सुश्रुत संहिता आदि ग्रन्थों अर्थात् वैदिक साहित्य में वर्णित आयुर्वेद परम्परा से सर्वथा भिन्न व नवीन है। जैन साहित्य में आयुर्वेद की परम्परा व वैदिक साहित्य में आयुर्वेद की जो परम्परा प्राप्त होती है उसे सारणी क्रमांक-1 व 2 द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।[16]

प्राणावाय परम्परा के अंतिम ग्रंथ कल्याणकारक में प्राणावाय सम्बन्धी पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का नामोल्लेख हुआ है। उसमें लिखा है[17] - पूज्यपाद ने शालाक्यतंत्र पर, पात्रस्वामी ने शल्यतंत्र, सिद्धसेन ने विष और उग्र-ग्रह-शमनविधिका, दशरथगुरु ने कायचिकित्सा पर, मेघनाथ ने बालरोगों पर, सिंहनाद ने वाजीकरण और रसायन पर वैद्यक-ग्रन्थों की रचना की थी। इसी ग्रन्थ में आगे उल्लेख है[18] कि समन्तभद्र ने विस्तारपूर्वक आयुर्वेद के आठ अंगों पर ग्रंथ की रचना की थी। समन्तभद्र के अष्टांगविवेचनपूर्ण ग्रन्थ के आधार पर ही उग्रादित्य ने संक्षेप में अष्टांगयुर्वेद युक्त कल्याणकारक नामक ग्रंथ की रचना की।

कल्याणकारक में वर्णित उपर्युक्त प्राणावाय संबंधी सभी ग्रंथ आज अनुपलब्ध हैं। पूज्यपाद के वैद्यक ग्रन्थ की प्रति भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना में (संस्कृत पाण्डुलिपि) ग्रंथागार में सुरक्षित है। पूज्यपाद के संस्कृत कल्याणकारक का कन्नड़ में अनूदित ग्रंथ अब भी मिलता है, जो सोमनाथ द्वारा विरचित है। प्राणावाय की परम्परा के अन्तर्गत या बाद में अन्य विविध कारणों से जैन यति-मुनियों, भट्टारकों और श्रावकों ने आयुर्वेद के विकास और आयुर्वेदीय ग्रंथों की रचना में महान योगदान दिया। ये ग्रंथ राजस्थान, गुजरात, पंजाब, महाराष्ट्र, मद्रास, तंजौर, मूडबिद्री आदि और भी अनेक स्थानों के शास्त्र-भंडारों में भरे पड़े हैं। यह दुर्भाग्य का विषय है कि इनमें से अधिकांश ग्रंथ अप्रकाशित हैं और अनेक अज्ञात। कल्याणकारक आज प्राणावाय परम्परा का अंतिम ग्रंथ प्रतीत होता है जिसका रचनाकाल 6 ठी शताब्दी है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि जैनधर्म व जैन साहित्य से आयुर्वेद का

क्या संबंध है। आयुर्वेद उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव अस्तित्व। जैन साहित्य में आयुर्वेद विषयक सामग्री भरी पड़ी है। विभिन्न जैनाचार्यों ने इस पर अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की, जिनका विस्तृत वर्णन लेखिका ने अपने शोध प्रबन्ध **'आयुर्वेद के विकास में जैनाचार्यों का योगदान - वैदिक काल से 17 वीं श. तक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में'** के अध्याय 4 एवं अध्याय 5 में किया है। इस शोध लेख में उनकी सूची प्रस्तुत की जा रही है। (देखें सारणी - 3) जिससे पाठकों को स्वतः स्पष्ट हो जायेगा कि जैनधर्म और आयुर्वेद का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है एवं कितना महत्व है, जो आज तक अध्ययन के क्षेत्र में उपेक्षित रहा है।

इस विवरण से यह तो स्पष्ट हो गया कि जैन धर्म / दर्शन / इतिहास में आयुर्वेद का महत्वपूर्ण स्थान है। लेकिन वहीं प्रश्न यह खड़ा होता है कि जैन आचार्यों / मुनियों, जिनका उद्देश्य आत्मकल्याण के लिये त्याग, तपस्या करना, संसार के मोह - बन्धनों से मुक्त रहना है, उन्होंने आयुर्वेद जैसे विषय पर इतनी विशालता, प्रगाढ़ता, विद्वत्ता के साथ अपनी लेखनी क्यों चलाई? इस विषय में उनकी रूचि का क्या कारण था? इन महत्वपूर्ण, शंकास्पद प्रश्नों के समाधान हेतु निम्न बिन्दुओं की ओर ध्यान देना आवश्यक होगा तभी उक्त प्रश्न का समाधान हो सकता है।

जैनाचार्यों द्वारा आयुर्वेद विषय पर ग्रंथ रचना का कारण :-

1. यह सर्वविदित है कि जैनाचार्यों ने धर्म / दर्शन / साहित्य / कला के क्षेत्र में अपने अद्वितीय योगदान के द्वारा भारतीय संस्कृति के स्वरूप को विकसित करने के साथ - साथ मानव - मात्र के प्रति कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त किया है। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने लोकहित की भावना को ध्यान में रखते हुए साहित्य सृजन किया है। आयुर्वेद विषयक ग्रंथों की रचना का उद्देश्य भी कोई व्यक्तिगत स्वार्थ या धन कमाना न होकर [क्योंकि जैन मुनि अर्थ (धन) से विरक्त रहते हैं।] लोककल्याण की भावना थी।

2. जैन मुनि सांसारिक आसक्ति से शून्य होने के कारण आत्मकल्याण के साथ - साथ परमार्थ साधना के रूप में भी साहित्य सृजन का कार्य करते थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने अनुभवों, ज्ञान से जिन वैद्यक - ग्रंथों की रचना की वे मानव, समाज, देश, संस्कृति के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण और उपकारी हैं अर्थात् जैनाचार्यों द्वारा वैद्यक ग्रंथों की रचना का प्रमुख कारण 'जन - उपकार' रहा।

3. जैनाचार्यों का प्रमुख कार्य तप (त्याग) साधना रहा है। अतः जैन मनीषी, आचार्य धर्मसाधना के लिये शरीर रक्षा को बहुत महत्व देते थे। वृहत्कल्पभाष्य की वृत्ति में उल्लेख है -

शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षणीयं प्रयत्नतः।
शरीरच्छ्वते धर्मः पर्वतात् सलिलं यथा॥

अर्थात् ''जैसे पर्वत से जल प्रवाहित होता है वैसे ही शरीर से धर्म प्रभावित होता है। अतएव धर्मयुक्त शरीर की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये।'' इस प्रकार शरीर रक्षा में सावधान जैन साधु यदि कभी भी थोड़ा बहुत भी रोगग्रस्त हों तो वे व्याधियों के उपचार की कला विधिवत् जानते थे। अतः धर्मसाधना के लिये भी जैनाचार्यों ने आयुर्वेद साहित्य का सृजन किया। आयुर्वेद की आवश्यकता के विषय में उल्लेख है कि चाहे अभ्युदय प्राप्त करना हो या निःश्रेयस्। दोनों की प्रप्ति के लिये मानव शरीर

की स्वस्थता नितान्त अपेक्षित है। स्वस्थ शरीर ही समस्त भोगोपभोग अथवा मन:शांतिकारक या आत्मअभ्युन्नतिकारक देव पूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, त्याग, दान, आदि धार्मिक क्रियाएँ करने में समर्थ होता है। विकारग्रस्त या अस्वस्थ शरीर न तो भौतिक विषयों का उपभोग कर सकता है और न ही धर्म की साधना। अत: आरोग्य प्रदान करने व विकारग्रस्त शरीर की विकाराभिनिवृत्ति करने में एकमात्र आयुर्वेद ही समर्थ है। आयुर्वेद द्वारा प्रतिपादित रोग - निदान और चिकित्सा संबंधी सिद्धान्तों में रोगों के अन्तरिम प्राणबल के अन्वेषण पर बल दिया गया है। रोग के मूल कारण को मिथ्या आहार - विहार जनित बतलाकर जैनाचार्यों ने, विद्वानों ने जिस प्रकार संयम द्वारा आहारगत पथ्य के नियम बनाये हैं वे अत्यंत उत्कृष्ट एवं व्यावहारिक हैं।[19]

4. जैन दर्शन के अनुसार जीव अनादि व अनन्त है। अत: जैनाचार्यों का मत है कि जीव के जन्म से लेकर मरण पर्यन्त तक ही नहीं ; अपितु असंख्य भव - भवान्तरों तक उसके हिताहित के विवेचन के उत्तरदायित्व का भार और अंत में मुक्ति तक पहुँचा देने का उत्तरदायित्व आयुर्वेद का है और इसी विचार, दर्शन के कारण जैनाचार्यों ने आयुर्वेद जैसे विषय पर साहित्य सृजन किया जो भारतीय आयुर्वेद को उनकी महत्वपूर्ण देन है।

5. श्वेताम्बर जैनाचार्यों द्वारा वैद्यक ग्रंथ रचना का एक महत्वपूर्ण एवं प्रमुख कारण यह है कि जैन धर्म के नियमों के अनुसार यति - मुनियों और आर्यिकाओं के रूग्ण होने पर वे श्रावक - श्राविका से अपनी चिकित्सा नहीं करा सकते थे। अतएव आवश्यक था कि वे अपनी चिकित्सा स्वयं करें। इसके लिये प्रत्येक यति - मुनि को चिकित्सा विषयक ज्ञान प्राप्त करना जरूरी था। और इसी आवश्यकता ने श्वे. जैनाचार्यों को आयुर्वेद विषयक ग्रंथों की रचना करने के लिये प्रेरित किया। दिगम्बर परम्परा में संघस्थ ब्रह्मचारी / ब्रह्मचारिणी भाई - बहन आहार के समय शुद्ध औषधियाँ प्रदान करते थे। अत: उनको भी आयुर्वेद का ज्ञान जरूरी था। फलत; संघ में आयुर्वेद के ग्रंथों का सृजन, पठन/पाठन होता रहता है।

6. आयुर्वेद विषयक ग्रंथ रचना में जैनाचार्यों की रुचि का एक और कारण सामान्यत: यह दिखाई देता है कि प्राचीन भारतीय अध्ययन पद्धति की यह विशेषता रही है कि उसमें एक शास्त्र ज्ञान की अपेक्षा बहुशास्त्र ज्ञान पर अधिक जोर दिया गया है। आचार्य कहते हैं[20] -

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याचशास्त्रनिश्चयम्।
तस्माद्बहुश्रुत: शास्त्रं जानीयात्.....॥

अर्थात् विषय या शास्त्र की पूर्णज्ञेयता व शास्त्र के विनिश्चय के लिये अन्य शास्त्रों का अध्ययन और साधिकार ज्ञान अपेक्षित है। इसी कारण जैनाचार्यों ने अध्यात्म विद्या के साथ - साथ धर्म, दर्शन, न्याय, व्याकरण, छंद, अलंकार, नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र, ज्योतिष के साथ - साथ आयुर्वेद विषय पर विशाल साहित्य सृजन कर अपने ज्ञान और बुद्धि कौशल को उजागर किया।

उपरोक्त बिन्दु जैनाचार्यों द्वारा आयुर्वेद ग्रंथ रचना के कारणों को एक सीमा तक स्पष्ट करते हैं।

जैन आयुर्वेद चिकित्सा / साहित्य की विशेषताएँ :-

जैनाचार्यों ने जिन प्रमुख आयुर्वेद विषयक ग्रंथों की रचना की उसमें वर्णित आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति या आयुर्वेद साहित्य की अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं और ये मौलिक विशेषताएँ इतर आयुर्वेद साहित्य से जैन आयुर्वेद साहित्य को अलग करतीं हैं। जो निम्न हैं -

1. जैनाचार्यों ने आयुर्वेद विषयक जिन ग्रंथों की रचना की उनमें पूर्णत: जैन सिद्धान्तों का व धार्मिक नियमों का परिपालन किया है। अहिंसावादी होने के कारण जैन आचार्यों ने शवच्छेदन प्रणाली व शल्य चिकित्सा को हिंसक मानते हुए इस पद्धति को नहीं अपनाया, जबकि वैदिक साहित्य, बौद्ध साहित्य में (कुछ मात्रा में) शल्य क्रिया व शवच्छेदन पद्धति का प्रमुखता से प्रयोग दिखाई देता है। पद्मानन्द महाकाव्य में[21] एक जैन मुनि के कुष्ट रोग उपचार का महत्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें मुनि के द्वारा कुपथ्यसेवन से यह रोग उत्पन्न हुआ था यथा -

चारित्रणावित्र्यकृते ह्यकाले, कुपथ्य - भोज्यात् कृमिकुष्ठरोगी। (पद्मा.6.37)

औषधि न ग्रहण करने के प्रमाद तथा कोढ़ से व्याप्त कीटाणुओं की हत्या हो जाने के भय से जैन मुनि का इस रोग के उपचार के प्रति उपेक्षाभाव रहा था। ऐसे में अहिंसात्मक शल्यचिकित्सा विधि का प्रयोग किया गया। जिसमें सर्वप्रथम जैन - मुनि के सभी अंगों की तेल से मालिश की गई।[22] तदन्तर कुष्ठ रोग विनाशक उष्ण तेल को मला गया।[23] निरन्तर तेल की मालिश करते रहने के कारण उष्ण हुए शरीर में से सभी कुष्ठ रोग के कीड़े बाहर निकलने लगे। तापशमनार्थ मुनि के शरीर को शीतल मणिकम्बल से लपेट दिया गया। तेल की ऊष्मा से मणिकम्बल में कीड़े निकलते रहे तथा धीरे - धीरे उस कम्बल में पड़े कीड़ों को एकत्र करके गाय के शव में डालते रहे। इस प्रकार चिकित्सकों की यह पूरी चेष्टा रही कि कुष्ठ रोग की चिकित्सा करते हुए रोग के कीटाणुओं की मृत्यु न हो तथा वे गोशव में स्थानान्तरित होकर जीवित बचे रहें। ताप के अधिक बढ़ जाने पर बीच - बीच में गोशीर्ष चन्दन का लेप भी किया जाता रहा। इस पूरी प्रक्रिया को तीन बार दोहराया गया। तीसरी बार तक शरीर के समस्त कीड़े बाहर निकलकर गोशव में पुन: विस्थापित कर दिये गये थे।[24] इस प्रकार जैन मुनि के कुष्ठ रोग का निवारण बिना जीव हत्या के हुई शल्य चिकित्सा द्वारा संभव हो पाया। शल्य चिकित्सा की इस विधि के उदाहरण से स्पष्ट होता है कि जैनाचार्यों ने हिंसा न हो और रोगोपचार हो जावे इस बात का ध्यान बड़ी सूक्ष्मतापूर्वक रखा। यह घटना किसी श्वे. परम्परा के मुनि की प्रतीत होती है।

2. जैन आयुर्वेद साहित्य में जहाँ शल्यचिकित्सा को नहीं अपनाया गया या जहाँ कहीं भी थोड़ा - बहुत अपनाया गया वहाँ हिंसा न हो इस बात का ध्यान रखा गया। वहीं रसयोगों जैसे पारद से निर्मित धातुयुक्त व भस्मों एवं सिद्धयोगों का अधिकांश प्रयोग किया गया है। इस पद्धति को हम विभिन्न जैन प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रंथों में देख सकते हैं। इसका वर्णन मैंने शोध - प्रबन्ध में किया है।

3. जैन, विद्वानों, आचार्यों ने वात्त - पित्त के आधार पर होने वाले रोगों के निदान के लिये नाड़ी - परीक्षा, मूत्र - परीक्षा आदि को विशेष रूप से महत्व व प्रश्रय दिया है। यह उनके द्वारा इन विषयों पर निर्मित ग्रंथों से स्पष्ट होता है।
4. जैनाचार्यों ने चिकित्सा में मद्य, मांस, मधु के प्रयोगों का सर्वथा निषेध किया है ; क्योंकि इनके प्रयोगों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अनेक प्राणियों की हिंसा होती है।

इसके स्थान पर जैनाचार्यों ने वनस्पतियों, खनिज, लवण, क्षार, रत्न आदि का विशेष रूप से चिकित्सा हेतु प्रयोग किया। जैन चिकित्सा पद्धति के विभिन्न ग्रंथों में इसके प्रयोग का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। जैसे मूर्च्छा, ज्वर आदि रोगों के उपचार में चन्दन जल के छींटों से जाग्रत करना, चन्दन आदि शीतल लेपों द्वारा ज्वर - मन्द करना, कपूर की भस्म से थकान दूर करना आदि।[25]

5. जैन सिद्धान्तानुसार रात्रिभोजन निषेध, पानी को छानकर पीना, जमींकन्द का प्रयोग न करना आदि जैसे सिद्धान्तों का युक्तिसंगत आयुर्वेदिक कारण बताया गया है। यह निषेध आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति में रोग निदान का एक साधन है। इसकी चर्चा तर्कसंगत ढ़ंग से जैन आयुर्वेदीय ग्रंथों में की गई है।

6. जैनाचार्यों ने स्वानुभूत एवं प्रायोगिक प्रत्यक्षीकृत प्रयोगों और साधनों द्वारा रोग मुक्ति के उपाय बताये हैं। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिये परीक्षण के उपरान्त सफल सिद्ध हुए प्रयोगों और उपायों को उन्होंने लिपिबद्ध कर दिया। जैन आचार्यों ने इस कार्य में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

7. जैन धर्म का सिद्धान्त है कि शारीरिक स्वास्थ्य के माध्यम से आत्मिक स्वास्थ्य व सुख प्राप्त करना। इसके लिये जैनाचार्यों ने भक्ष्याभक्ष्य, सेव्यासेव्य आदि पदार्थों का उपदेश किया जिसका उद्देश्य जीवन का अंतिम लक्ष्य पारमार्थिक स्वास्थ्य प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करना है।

8. जैनाचार्यों द्वारा रचित आयुर्वेदीय ग्रंथों में प्रदेश विशेष में होने वाली स्थानीय वनोषधियों के प्रयोग भी मिलते हैं। यदि इस क्षेत्र में अनुसंधान व खोज की जाये तो आज भी हमें वे औषधियाँ कुछ हद तक प्राप्त हो सकती हैं जो उपयोग व व्यवहार की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं।

9. अहिंसा के सिद्धान्त का पालन करते हुए पुष्पायुर्वेद जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना आचार्य समन्तभद्र द्वारा की गई, जिसमें 180000 पराग सहित पुष्पों द्वारा औषधि निर्माण, जैन आचार्यों द्वारा रचित आयुर्वेदिक ग्रंथ की महत्वपूर्ण विशेषता है। इससे एकेन्द्रिय जीव की भी हिंसा नहीं होती। लेकिन दुख का विषय है कि इतना महत्वपूर्ण ग्रंथ आज अनुपलब्ध है। इस ग्रंथ की जानकारी अन्य ग्रंथों (पश्चात् के वैद्यक ग्रंथों) से प्राप्त होती है। यदि समर्पित प्रयासों के द्वारा ग्रंथों की खोज की जाये तो उक्त ग्रंथ के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त हो सकती है, ऐसा मेरा विश्वास है। जिससे चिकित्सा जगत में क्रांतिकारी विकास एवं परिवर्तन आ सकता है।

10. जनसाधारण में रोग निरोधक उपायों और स्वास्थ्यवृत सद्वृत के प्रचार द्वारा Preventive Medicine (परिरक्षक औषधियों) का व्यावहारिक उपयोग जैन आयुर्वेद साहित्य या जैन आचार्यों की देन है।

11. जैन वैद्यक ग्रंथ अधिकांशत: प्रादेशिक भाषाओं में उपलब्ध हैं। यही लोकजीवन के व्यवहार और प्रचार का माध्यम था। अत: जैन आचार्यों ने अधिकांशत: उन्हीं भाषाओं में ग्रंथ रचना की जिससे चिकित्सा प्रणाली का जनसामान्य में प्रयोग हो सके। वे इसका लाभ उठा सकें।

12. जैनाचार्यों की चिकित्सा पद्धति की प्रमुख विशेषता यह है कि वे अपने आचार - व्यवहार में उन नियमों का पालन करते थे जिससे शरीर निरोगी रहे। अर्थात् रोग की व्याधियाँ

आने से पूर्व ही जैनाचार्य अपने आहार - पथ्यापथ्य का विशेष ध्यान रखते थे। जैसे जमीकंद का प्रयोग न करना, रात्रि भोजन न करना, पानी छानकर पीना, विविध शल्यचिकित्सा के स्थान पर औषधि निर्माण में वनस्पतियों, खनिज, लवण, क्षार, चूर्ण, गुटिका भस्म आदि का प्रयोग करना। इसके साथ ही जैनाचार्यों के आचार - नियम में परिग्रह न करना प्रमुख है। औषधि निर्माण में कम से कम सामग्री का उपयोग हो, औजारों की आवश्यकता न पड़े इन बातों का ध्यान रखते हुए जैनाचार्यों ने औषधि निर्माण की विधियां बताकर विविध रोगों की चिकित्सा का पथ प्रशस्त किया है।

13. जैनाचार्यों द्वारा आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति में अपनाये गये सिद्धान्त पूर्णत: वैज्ञानिक हैं। अहिंसात्मक शाकाहारी चिकित्सा पूर्णरूप से वैज्ञानिक है, क्योंकि वैज्ञानिकों ने भी यह स्वीकार किया है कि मांसाहार की अपेक्षा शाकाहार स्वस्थ व लंबा जीवन जीने में सहायक होता है।

इस प्रकार ये विशेषताएँ और इन जैसे अनेक अन्य वैशिष्ट्य जैनाचार्यों द्वारा विकसित आयुर्वेद को इतर धर्मावलम्बियों के आयुर्वेद से पूर्णत: अलग कर देते हैं। जैन आयुर्वेद में रोग निदान तो लक्ष्य है ही, किन्तु निदान प्रक्रिया भी पूर्णत: हिंसा से मुक्त है। जैनाचार्यों ने आयुर्वेद व चिकित्सा शास्त्र के विषय में गवेषणापूर्ण चिंतन व अनुभव के आधार पर निर्दोष, सात्विक, शुद्ध शाकाहारी चिकित्सा विधियों का प्ररूपण किया है। इनकी व्यापकता पर शोध व खोजपूर्वक इन ग्रंथों का संपादन, प्रकाशन, व्यापक प्रचार - प्रसार वर्तमान परिस्थितियों में अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि आज के युग में औषधि के नाम पर अनेकों अभक्ष्य अस्पृश्य औषधियाँ अज्ञानता व मजबूरी में लोग सेवन करते हैं। इससे आहार शुद्धि व अहिंसात्मक जीवनवृत्ति बाधित होती है। वही इन अभक्ष्य औषधियों के पार्श्व - परिणाम भी शरीर को कमजोर करके अनेकों व्याधियों का गढ़ बना देते हैं। अत: आहार शुद्धि, सत्व शुद्धि की मान्यता को ध्यान में रखते हुए शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा के लिए जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत आयुर्वेदिक ग्रंथों का अनुसंधान व अनुशीलन का विशाल क्षेत्र अनुसंधानकर्त्ताओं, चिकित्सकों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

जैनाचार्यों ने आयुर्वेद साहित्य की जो रचना की वह साहित्य निर्माण में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उन्होंने लोकहित की भावना को ध्यान में रखते हुए आयुर्वेद विषयक साहित्य सृजन किया है। जैनाचार्यों ने जिस भी विषय पर अपनी लेखनी चलायी उसका उद्देश्य मात्र लोक कल्याणक की भावना थी। विभिन्न साहित्यिक प्रमाणों से शोध प्रबंध में वर्णित जैन आयुर्वेदाचार्यों के विवरण से स्पष्ट होता है कि जैनाचार्यों ने आयुर्वेद साहित्य की वृद्धि में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जैनाचार्यों ने जिन आयुर्वेद ग्रंथों की रचना की उनमें पूर्णत: जैन धर्म के सिद्धान्तों का अनुकरण व धार्मिक नियमों का परिपालन किया गया है, जो उनकी मौलिक विशेषता है। उन्होंने मनुष्य की शारीरिक स्थिति के साथ - साथ मानसिक, आध्यात्मिक स्थिति के विषय में विस्तृत विवेचन किया। जैन आयुर्वेद ग्रंथों में उल्लेखित औषधियाँ रोग व योग प्रायोगिक ज्ञान पर आधारित है। अहिंसात्मक तत्वों का कठोरता से परिपालन किया गया है। जैन धर्म के प्रमुख सिद्धान्त 'अनेकान्तवाद' का प्रयोग भी आयुर्वेद विज्ञान से किया गया है। मद्य, मांस, मधु के सेवन का जैन चिकित्सा विज्ञान में पूर्णत: निषेध किया है। रात्रि भोजन का त्याग, गर्म पानी का सेवन, अहिंसा, तप, दान जैसे सिद्धान्तों के मूल में जो कारण है वह भी पूर्ण वैज्ञानिक आयुर्वेदिक पद्धति पर आधारित है। उसके साथ ही आहारगत जो नियम जैनाचार्यों ने व्यवहार में लिये हैं उसका तर्कसंगत रूप से आयुर्वेदिक कारण स्पष्ट होता है। भारतीय साहित्य को जैनाचार्यों

का जो मौलिक योगदान है उससे भारतीय आयुर्वेद साहित्य को समृद्धि मिली है। इस पर नये-नये अनुसंधान व खोज चिकित्सा जगत के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह कार्य जनहित व समाजहित में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

पूर्ववर्ती कार्यों का संक्षिप्त पुनरावलोकन

इस दृष्टि से लेखिका द्वारा प्रबन्ध रचना से पूर्ववर्ती शोध का संक्षिप्त सर्वेक्षण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

जैनाचार्यों ने अपने शिष्यों को काय चिकित्सा, शल्य चिकित्सा, रसायन शास्त्र, वाजीकरण, जैन आयुर्वेद के आठ अंगों के नियमों में पारंगत करने के उद्देश्य से स्वतंत्र रूप से पूर्णत: आयुर्वेदीय ग्रंथों की रचना के साथ-साथ प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रंथों पर टीकायें भी लिखीं हैं।[26] अत: इस विशाल व महत्वपूर्ण जैन आयुर्वेद साहित्य का अध्ययन भारतीय आयुर्वेद के सम्यक ज्ञान हेतु आवश्यक है। जैन साहित्य में आयुर्वेद की समृद्ध परम्परा की ओर विशेष रूप से सर्वप्रथम विश्व समुदाय का ध्यान विद्यावाचस्पति पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा आकृष्ट किया गया। इसी के माध्यम से ज्ञात हुआ कि जैन साहित्य में आयुर्वेद की परम्परा बहुत प्राचीन व समृद्ध है। इसके पश्चात् अनेक आयुर्वेद विषयक हस्तलिखित ग्रंथों की खोजकर उनके मुद्रण/प्रकाशन की श्रृंखला प्रारंभ हो गयी। जैसे 1940 में मुम्बई से योगचिन्तामणि - हर्ष कीर्तिसूरिकृत (1605 ई.), जोधपुर व पूना से यशस्तिलक चम्पूकाव्य - सोमदेवकृत (10 वीं 21), 1959 में बीकानेर से वैद्यमनोत्सव - नयनसुखकृत (1592 ई.), 1961 में बम्बई से रसचिंतामणि - अनन्त देवसूरिकृत (14 वीं, 15 वीं श.) 1967 में मरणकण्डिका अर्धकांड - दुर्गदेवकृत (1032 ई.), सिंधी जैन ग्रंथ सीरीज में योगरत्नमाला पर लघुविवृत्ति टीका - गुणाकरकृत (1239 ई.), भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना आदि स्थानों से आयुर्वेदिक हस्तलिखित ग्रंथों का प्रकाशन किया गया है। इसी प्रकार जैन शास्त्र भंडारों में भरे पड़े हस्तलिखित ग्रंथों की सूची बनाकर प्रकाशित की गयी। जिससे आयुर्वेद विषयक ग्रंथ भी प्रकाश में आये। जैसे - राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों की ग्रंथ सूची भाग 1 से 5 तक, (1954, 1957,.....) जैन सिद्धान्त भवन ग्रंथावली प्राच्य ग्रंथागार आरा की विवरणात्मक सूची (1987)। इसी के साथ आयुर्वेद विषय पर अनेक विद्वानों ने अपनी कलम चलाई व इतिहास के गर्भ में छुपे जैन आयुर्वेद साहित्य को प्रकाश में लाया गया। लेकिन जितनी विशाल मात्रा में आयुर्वेद विषयक ग्रंथों की रचना जैनाचार्यों ने की है उतनी विस्तृतता के साथ खोज, अनुसंधान, मुद्रण, संपादन, प्रकाशन का कार्य नहीं हो पाया। फिर भी जिन विद्वानों ने इस विषय पर अपनी लेखनी चलाई उनमें से नाथूराम प्रेमी(1956), जुगल किशोर 'मुख्तार' (1956), मुनि कां सागर (1959), हीरालाल जैन (1960) कैलाशचन्द्र शास्त्री(1960), प्रियवृत शर्मा(1962), जगदीशचन्द्र जैन[28] (1965), गोकुलचन्द्र जैन (1967), अत्रिदेव विद्यालंकार (1972), नेमीचन्द्र शास्त्री (1974), विद्याधर जोहरापुरकर (1975), प्रियवृत शर्मा (1975), साध्वी संघमित्रा (1976), वागीश्वर शुक्ल (1977), राजकुमार जैन (आचार्य) (1978), डॉ. मोहनचन्द्र दलितचन्द्र देसाई (1989), बनारसीलाल गौड़ (1989), लालचन्द्र हरिश्चन्द्र जैन (1997) आदि की पुस्तकों में जैन साहित्य में आयुर्वेद विषयक सामग्री प्राप्त होती है। इनका विस्तृत विवरण लेखिका के शोध प्रबन्ध में उपलब्ध है। इन पुस्तकों में जब भारतीय साहित्य, संस्कृति, समाज, इतिहास विषयक सामग्री का वर्णन लेखकों ने किया तो उसमें आयुर्वेद संबंधी विषय का भी स्थान-स्थान पर विवरण दिया है, जिससे हमें आंशिक रूप से जैन आयुर्वेदाचार्यों व जैन आयुर्वेद साहित्य की जानकारी प्राप्त होती है।

उपरोक्त साहित्य के अतिरिक्त कुछ लेखकों ने स्वतंत्र रूप से जैन आयुर्वेद विषयक पुस्तकों की रचना की जिसमें जैन आयुर्वेदाचार्यों की जानकारी प्राप्त होती है। जैसे तेजसिंह गौड़ (1978), राजेन्द्र भटनागर (1984)। इनकीं पुस्तकों द्वारा शोध कार्य को बहुत सहयोग प्राप्त हुआ। इन पुस्तकों ने जैन आयुर्वेद साहित्य को उजागर करके शोध की दिशा में निरन्तर मार्ग प्रशस्त किया। इसी प्रकार श्री पं. पदेजी ने विदेशों में गयी आयुर्वेद की अनेक पुस्तकों में से लगभग 1000 पुस्तकों की सूची तैयार की एवं रामदास ने अपनी पुस्तक 'हिन्दुत्व'' में आयुर्वेद के अनेक अलभ्य ग्रंथों व विभिन्न तथ्यों को उजागर किया है।

उपरोक्त आयुर्वेद विषयक ग्रंथों के अतिरिक्त विद्वानों ने विभिन्न शोध पत्र - पत्रिकाओं, अभिनन्दन ग्रंथों, स्मृति ग्रंथों में महत्वपूर्ण लेखों का प्रकाशन कराया जिनमें से प्रमुख लेखक - जुगलकिशोर मुख्तार (1937), अगरचन्द नाहटा (1937), के. भुजबली शास्त्री (1938), गोविन्द धाणेकर (1943), श्रीपतराम गौड़ (1964), हनुमन्तप्रसाद शास्त्री (1967), विद्याधर थापर (1967), स्वामी मंगलदास (1967), राजेन्द्र भटनागर (1976), हरिशचन्द्र जैन (1981), राजकुमार शास्त्री (1981), ब्रज किशोर पाण्डे (1981), राजकुमार जैन (1987), राजेन्द्र भटनागर (1987), तेजसिंह गौड़ (1987), कुन्दनलाल जैन (1987), आ. पूज्यपाद विशेषांक में विभिन्न विद्वानों के लेख (1991), उदयचन्द जैन (1992), स्नेहरानी जैन (1992), राजकुमार जैन (आचार्य) (1993), एच.सी. जैन (1993) आर्यिका जिनमती (1994), राजकुमार जैन (1994), कुन्दनलाल जैन (1995), मुनि चन्द्रकमल (1996), (वैद्य) सोहनलाल (1997), राजकुमार जैन (1997) कुन्दनलाल जैन (1997), शकुन्तला जैन (1997) आदि। इन लेखों से आयुर्वेद विषयक महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

उपरोक्त स्वतंत्र लेखन कार्यों के अतिरिक्त जैन आयुर्वेद साहित्य पर प्रशंसनीय शोध कार्य (1) यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन - डा. गोकुलचन्द्र जैन, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी 1965 (प्रकाशित), (2) पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि का समालोचनात्मक अध्ययन - डॉ. सनमत कुमार जैन, कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय 1981 (अप्रकाशित), (3) मध्यकालीन भारत में चिकित्सा शास्त्र - डॉ. गोपाल दुबे, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर (1979) (अप्रकाशित), (4) पुष्पायुर्वेद का सांस्कृतिक अध्ययन - डॉ. रेखा जैन, पूना विश्वविद्यालय (1991) (प्रकाशित) हुए हैं। ये शोधकार्य प्रशंसनीय इसलिए हैं कि जैन आयुर्वेद साहित्य को शोध का विषय बनाया गया है। लेकिन यह भी सत्य है कि इन शोध प्रबन्धों में जैन साहित्य में आयुर्वेद विषयक बहुत सी सामग्री उपेक्षित ही रह गयी। जैसे डा. रेखा जैन के शोध प्रबंध में संबंधित विषय की जानकारी कम व विषय की भूमिका / उपसंहार अधिक है। इसी तरह डा. गोपाल दुबे ने अपने शोध प्रबन्ध में जैन आयुर्वेदाचार्यों व आयुर्वेद साहित्य को बहुत ही कम स्थान दिया है। इसके अध्याय 7 में ''मध्यकालीन युग में चिकित्सा सम्बन्धी ग्रंथ'' के प्रथम भाग में आयुर्वेदीय ग्रंथ में जो सूची दी गई है उसमें मात्र 8 - 9 जैनाचार्यों द्वारा रचित आयुर्वेदिक ग्रंथों का ही विवरण दिया है। जबकि लेखिका ने स्वयं द्वारा किये गये शोध कार्य में मध्यकाल के (12 वीं श. से 17 वीं श. तक) लगभग 30 जैनाचार्यों व उनके द्वारा रचित वैद्यक ग्रंथों का विवरण शोध प्रबंध में दिया है। डॉ. दुबे अपने शोध प्रबन्ध में जैन आयुर्वेदिक ग्रंथों के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर पाये थे। फिर भी डा. दुबे का कार्य सराहनीय व प्रशंसनीय है। उन्होंने महत्वपूर्ण जैन आयुर्वेदाचार्यों को अपने शोध प्रबन्ध में स्थान देकर उसके महत्व को उजागर किया है।

उपरोक्त शोध प्रबन्ध अनुसंधान व खोज के नये द्वार खोलते हैं। इस प्रकार विभिन्न विद्वानों, इतिहासकारों के स्वतंत्र पुस्तकों के लेखन, शोध पत्र - पत्रिकाओं, स्मारिकाओं, अभिनन्दन, स्मृतिग्रंथों में आयुर्वेद विषयक सामग्री का प्रकाशन समय - समय पर होने वाली संगोष्ठियों

व शोधकार्यों ने 21 वीं श. में जैन साहित्य में आयुर्वेद विषय पर नये दृष्टिकोण से देखने व इतिहास के गर्भ में छुपे तथ्यों को उजागर करने में महती भूमिका अदा की है।

पूर्ववर्ती शोध कार्यों का सम्यक् उपयोग करते हुए तथा अब तक हुवे कार्यों को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से, इस क्षेत्र में किये गये प्रयासों की विश्रृंखलित कड़ियों को सूत्रबद्ध करने के उद्देश्य से ही लेखिका द्वारा शोध कार्य हेतु यह विषय चयन किया गया।

शोध की भावी दिशाएँ –

1. देश के समस्त ग्रंथ भंडारों, सरस्वती भंडारों, व्यक्तिगत संग्रहों का व्यापक सर्वेक्षण कर उनमें निहित आयुर्वेद विषयक ग्रंथों का सूचीकरण एवं संरक्षण।
2. विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध पाण्डुलिपियों का हिन्दी / अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कर उन्हें विद्वत् समुदाय की परिधि में लाना।
3. इन नवीन अनुवादित कृतियों का आयुर्वेद के विशेषज्ञ विद्वानों तथा भाषाविदों के साथ संयुक्त रूप से आलोचनात्मक अध्ययन किया जाये, जिससे विभिन्न जटिल एवं असाध्य रोगों के निदान की अनेकानेक नई युक्तियाँ प्रकाश में आ सकें।
4. जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत आयुर्वेद विषयक ग्रंथों का इतिहासकारों एवं आयुर्वेदाचार्यों द्वारा संयुक्त रूप से अध्ययन किया जाये जिससे विभिन्न रोगों के लक्षणों का एवं उनके निदान के उपायों (विशिष्ट तकनीकों) को सर्वप्रथम लिपिबद्ध करने वाले आयुर्वेदाचार्यों का निर्धारण करना। जिससे ऐतिहासिक दृष्टि से जैनाचार्यों के योगदान को निश्चित किया जा सकेगा।
5. वर्तमान में प्रचलित ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति में निदान की जो प्रक्रिया अपनाई जाती है उसके आनुषांगिक प्रभावों से संपूर्ण विश्व चिंतित है। आयुर्वेद चिकित्सा की रोग के समूल विनाश की विशिष्ट पद्धति के कारण यदि हम असाध्य रोगों के निदान अथवा ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति द्वारा साध्य रोगों के वैकल्पिक निदान आयुर्वेद में ढूंढ सके तो यह मानवता की विशिष्ट सेवा होगी। जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रंथों के प्रकाश में आने पर हमें अनेक रोगों के निदानों की प्राप्ति अवश्य होगी।

मुझे विश्वास है कि एक विस्तृत परियोजना के तहत् आयुर्वेद विशेषज्ञ, भाषाविद्, इतिहासकार एवं जैन दर्शन के मर्मज्ञ आयुर्वेद विषयक विपुल जैन साहित्य के पुनरूद्धार की योजना अवश्य बनायेंगे। यह कार्य व्यापक, जटिल, श्रमसाध्य होने के साथ-साथ खर्चीला अवश्य है किन्तु असंभव नहीं। आवश्यकता है शोधकर्ताओं के समर्पण एवं समीचीन नियोजन की। यदि ऐसी कोई परियोजना किसी विश्वविद्यालय अथवा संस्थान द्वारा हस्तगत की जाती है तो लेखिका का उसमें सम्यक् सहयोग रहेगा। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि इस लेख को पढ़कर सुधी-पाठकों, विद्वानों, इतिहासकारों, शोधार्थियों का ध्यान उक्त विषय की ओर निश्चित रूप से जायेगा और इस क्षेत्र में आने वाले समय में कुछ निर्णयात्मक शोध कार्य हो पायेगा, जिससे इतिहास व आयुर्वेद चिकित्सा क्षेत्र में नये अध्याय या नवीन पृष्ठ जुड़ पायेंगे।

सारणी क्रमांक - 1 जैन साहित्य में आयुर्वेद की परम्परा[28]

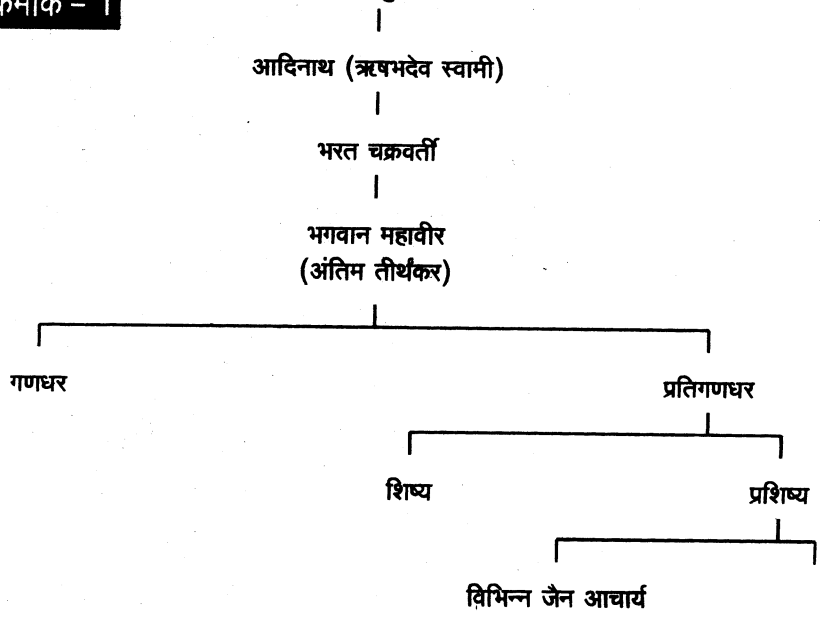

सारणी क्रमांक - 2 वैदिक साहित्य में आयुर्वेद की परम्परा[29]

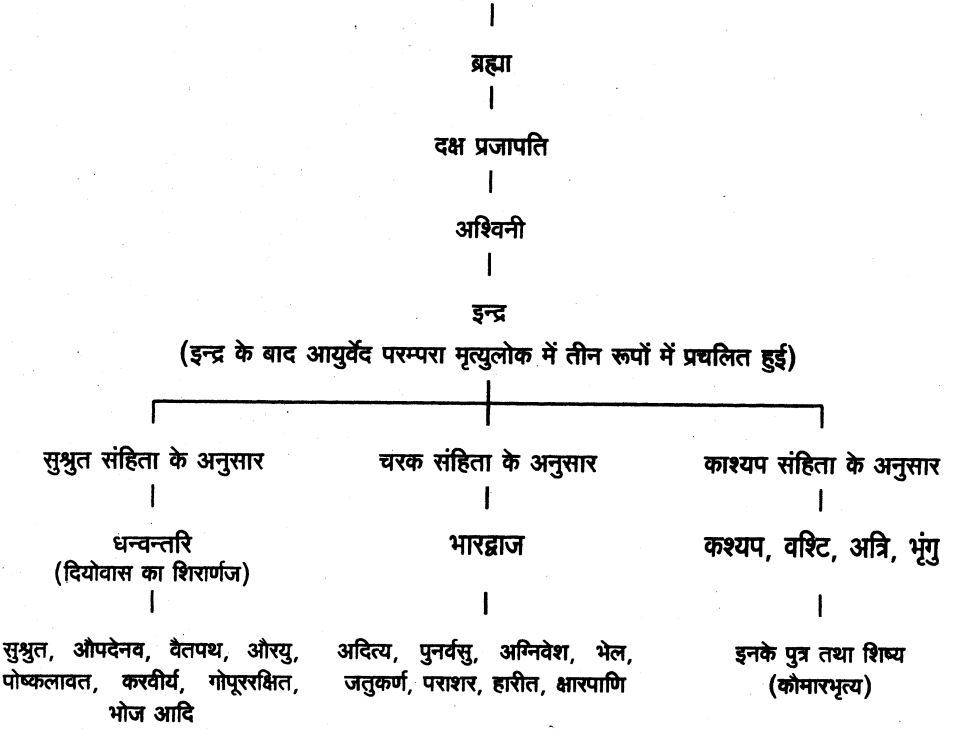

सारणी क्र. - 3

जैन आयुर्वेदाचार्य और उनका परिचय (सूचीबद्ध) 17 वीं शताब्दी तक

क्र.	आचार्य का नाम	ग्रंथ का नाम	ग्रंथ समय	ग्रंथ भाषा	उपलब्ध / अनुपलब्ध	प्रकाशित / अ.प्र.	विषय	प्रकाशक / सूचना स्रोत
1	आचार्य पादलिप्तसूरि	ज्योतिषकरण्डक टीका, कालज्ञान निर्वाण कालिका, प्रश्नव्याकरण सिद्धपाहुड	94 से 162 ई. लगभग	प्राकृत	अनुपलब्ध	अप्रकाशित	रसचिकित्सा	वीर शासन के प्रभावक आचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1975, पृ. 22 - 23
2.	आचार्य सिद्धनागार्जुन	नागार्जुन कक्ष, नागार्जुन कल्प, आश्चर्ययोग रत्नमाला, कक्षपुरम्, रसचिकित्सा	दूसरी - तीसरी श. लगभग	प्राकृत मिश्रित अपभ्रंश	,,	,,	,,	मुनि कांतिसागर, खण्डहरों का वैभव, काशी, 1959, पृ. 299, कल्याण - कारक, सम्पादकीय, पृ. 39
3.	समन्तभद्र	अष्टांग आयुर्वेद, सिद्धरसायनकल्प, पुष्पायुर्वेद	373 से 473 ई. लगभग	प्राकृत	,,	,,	आयुर्वेद के आठ अंग व वनस्पति संबंधी	कल्याणकारक पृ. 37 - 40 दक्षिण भारत में जैन धर्म, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ. 142
4.	सिद्धसेन	विषतन्त्र, भूतविद्या	4 - 5 वीं श. लगभग	,,	,,	,,	अगधतंत्र व भूतविद्या	कल्याणकारक 20 / 85
5.	पूज्यपाद	विद्याविनोद, पूज्यपादवैद्यक, वैद्यकशास्त्र, रस तंत्र, वैद्यकसार संग्रह, कल्याणकारक, वैद्यामृत, निदानयुक्तावली	485 से 522 ई. लगभग	कन्नड़, संस्कृत	उपलब्ध	,,	शालाक्य तंत्र	राजकीय हस्तप्रति ग्रंथागार मद्रास केटलॉग खण्ड XXII पृ. 858, निदानयुक्तावली की 6 पत्रों की हस्तप्रति मद्रास राज. पुस्तकालय में विरचित स्वयं लेखिका के पास छाया प्रति।
6.	पात्रकेसरी	शल्यतंत्र विषयक	705 से 762 ई. लगभग	संस्कृत	अनुपलब्ध	,,	•शल्य तंत्र / शालाक्य तंत्र	कल्याणकारक श्लोक 85, पृ. 20
7.	मेघनाथ	बालवैद्य (कौमार भृत्य विषयक)	8 वी श.	,,	,,	,,	कौमार भृत्य	,,
8.	सिंहनाद	वाजीकरण	,,	,,	,,	,,	वाजीकरण व रसायन शास्त्र	,,
9.	गोम्मटदेव मुनि	मेरूतंत्र	,,	,,	,,	,,	चिकित्सा विषयक	कल्याणकारक प्रस्तावना पृ. 38

10.	दशरथमुनि	ग्रंथ नाम अनुपलब्ध	8 वीं श.	संस्कृत	अनुपलब्ध	अप्रकाशित	कायचिकित्सा	प्रस्तावना 20 / 85
11.	उग्रादित्य	कल्याणकारक	8 वीं श.	संस्कृत	उपलब्ध	प्रकाशित	अष्टांग आयुर्वेद	वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित, सोलापुर, 1940
12.	धनञ्जय	धनञ्जय निघंटु (अनेकार्थ नाममाला) विषापहारस्त्रोत	,,	,,	,,	,,	आयुर्वेदिक औषधियों के नाम (वनस्पति विषयक)	धनञ्जयमाला - अंतिम अध्याय श्लोक 20 तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग - , - डा. नेमीचंद्र शास्त्री, पृ.8
13.	सोमदेव	यशस्तिलक चम्पूकाव्य	10 वीं	,,	उपलब्ध	प्रकाशित	भोजन नियम	श.प्रा.वि. प्रतिष्ठान जोधपुर व आनन्दाश्रम प्रेस पूना से प्रकाशित, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई - 1903
14.	महेन्द्र	द्रव्यावली	11 वीं	,,	,,	अप्रकाशित	औषधि द्रव्यों का संग्रह	जैन आयुर्वेद साहित्य का इतिहास - डॉ. राजेन्द्र भटनागर पृ. 90
15.	दुर्गदेव	रिष्ट समुच्चय (मरणकण्डिका) अर्धकांड	1032 ई.	प्राकृत	,,	प्रकाशित	शकुन / अपशकुन विषयक	सिंधी जैन ग्रंथ सीरीज - मुनि जिनविजयजी विषयक
16.	आचार्य हेमचन्द्र	अभिधानचिंतामणि. अनेकार्थ संग्रह, देशीनाम माला, निघण्टु शेष	1088 से 1173 ई. तक	अपभ्रंश	उपलब्ध	निघण्टु शेष प्रकाशित	वनस्पति कोष	1968 में संस्कृति विद्यामंदिर अहमदाबाद से निघण्टु शेष टीका सहित प्रकाशित, वीर शासन के प्रभावक आचार्य - पृ. 97 - 98
17.	जिनदास	वैद्यक ग्रंथ (नाम अप्राप्त)	12 वीं श.	संस्कृत	,,	अप्रकाशित	चरक संहिता की व्याख्या	प्रियंव्रत शर्मा - आयुर्वेद का वैज्ञानिक इति. पृ. 97 - 98
18.	दुर्लभराज	गजप्रबन्ध, गजपरीक्षा, तुरंग प्रबन्ध, पुरुष - स्त्री लक्षण, स्वान शास्त्र, शकुन शास्त्र	1158 ई. के लगभग	,,	उपलब्ध	,,	हाथी, घोड़ा आदि पशु चिकित्सा	जैन ग्रन्थावली पृ. 361
19.	मारसिंह	अश्वविद्या - गजविद्या	961 - 914 ई.	कन्नड़	अनुपलब्ध	,,	अश्व, गज चिकित्सा	मैसूर आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट 1921, पृ. 22 - 23
20.	कीर्ति वर्मा	गौवैद्यक	1125 ई.	,,	,,	,,	काय चिकित्सा	जैन धर्म का प्राचीन इतिहास - भाग - 2, पृ. 334
21.	सोमनाथ कवि	कल्याणकारक	1140 ई.	,,	उपलब्ध	,,	अष्टांग संग्रह	जैनमठ मूठबद्री ग्रंथागार में ग्रंथ क्रमांक 200 (अपूर्ण)

22.	गुणाकर	अमृत रत्नावली टीका (उप.), चरक संहिता पर टीका (अनु.)	1239 ई.	गुजराती	उपलब्ध.	प्रकाशित	वनस्पति व तंत्र विद्या	आचार्य प्रियवृत शर्मा द्वारा सम्पादित, चौखम्बा ओरियन्टल रिसर्च ई. से (सं. 1975 में) वाराणसी से प्रकाशित
23.	पं. आशाधर	अष्टांग हृदय (वाग्भट्ट) पर 'उद्योतिनी' टीका	1240 ई	संस्कृत	अनु.	अप्रकाशित	अष्टांगायुर्वेद	अष्टाग हृदय, हरि शास्त्री पराड़कर निर्णयसागर (प्रेस पृ. 29)
24.	हरिपाल	वैद्यक शास्त्र योगसार योगानिदान	1284 ई.	प्राकृत	1 व 3 उप. 2 अनु.	''	बालरोग निदान	जुगलकिशोर मुख्तार - जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह, भाग - 1, दिल्ली 1954, पृ. 221
25.	चम्पक	कंकालरसाध्याय वार्तिक	13 वी श.	संस्कृत	उपलब्ध	प्रकाशित	रस विद्या	काशी संस्कृत सीरिज, चौखम्बा बनारस से 1986 में प्रकाशित
26.	हंसदेव	मृगपक्षीशास्त्र	''	''	''	अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित	पशु - पक्षी चिकित्सा	1925 में सुन्दराचार्य द्वारा अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित
27.	अमृतनंदी	निघण्टु कोष, अलंकारसार	''	कन्नडी	''	अप्रकाशित	वनस्पति शब्दकोष	बैंगलोर के एक वैद्यजी की व्यक्तिगत लाइब्रेरी में कल्याणकारक प्रस्तावना पृ. 36 - 37, जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग - 5, पृ. 231
28.	मंगराज	खगेन्द्रगणिदर्पण	1360	''	''	प्रकाशित	विष चिकित्सा	मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास से प्रकाशित
29.	वीरसिंह देव	वीरसिंहावलोकन	1383	''	अनुपलब्ध	अप्रकाशित	अष्टांग संग्रह	जैन ग्रंथावली पृ. 360
30.	मेरुतुंग	कंकाल रसाध्याय पर ''रसायन प्रकरण'' टीका	1386	संस्कृत	उपलब्ध	प्रकाशित	रस चिकित्सा	काशी संस्कृत सीरीज बनारस से प्रकाशित Catalogues of Catalogorum Part-2, p. 15
31.	माणिक्यचन्द्र	रसावतार	14 - 15 वीं श.	''	उपलब्ध	अप्रकाशित	''	ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना के ग्रंथागार में ग्रंथांक 373 (1082 - 83) पर
32.	अनन्तदेव सूरि	रसचिन्तामणि	14 - 15 वीं	संस्कृत	उपलब्ध	प्रकाशित	रस शास्त्र	हिन्दी टीका सहित वेंकटेश्वर प्रेस मुम्बई से 1967 में प्रकाशित
33.	चारुचन्द्र सूरि	वाताशितम्	15 वीं श.	''	अनु.	अप्रकाशित	-	पुरातत्व वर्ष 02, पृ. 418

34.	ठक्कुर जिनदेव	मदनपराजय	14 - 15 वीं	संस्कृत	उपलब्ध	अप्रकाशित	''	सं. 7573 की हस्तप्रति मौजूद - जैन आयुर्वेद साहित्य का इतिहास, डा. राजेन्द्र भटनागर, पृ.105
35.	सिंह	निबन्ध	1471 ई.	''	अपूर्ण प्रति उप.	''	-	जैनों द्वारा रचित हिन्दी के पद्यमय वैधक ग्रंथ, अगरचन्द्र नाहटा, पृ. 185
36.	यश:कीर्ति मुनि	जगत सुन्दरी प्रतियोगिता	15 वी श.	प्राकृत	उपलब्ध	प्रकाशित	-''	हस्तप्रति भ.ओ.रि.इ. पूना इंस्टीट्यूट में - धुलिया से एस.के. कोटेचा द्वारा प्रकाशित, जिनरत्नकोष भाग - 1, पृ. 128
37.	पं. जिनदास	वैद्यक ग्रंथ (नाम अज्ञात)	-	-	-	-	-	जिनदास कृत होजीकारेणु चरित्र में इसका उल्लेख
38.	नयनसुख	वैद्यमनोत्सव, सन्निपात - कलिका, सालोन्तरास	1592 ई.	हिन्दी (छन्दोबद्ध)	अनु. 2 - 3, उप.1	वैद्यमनोत्सव प्रकाशित	-	प्रशस्ति संग्रह भाग - 1, पृ. 32, 63 से 67
39.	नर्बुदाचार्य	कोक शास्त्र चतुष्पदी (कोककला चौपाई)	1600 ई.	हिन्दी	उपलब्ध	अप्रकाशित	कामशास्त्र विषयक	भंडारकर रि.इ.पूना में हस्तप्रति उपलब्ध, जैन गुर्जर कविओं, भाग - 1, पृ. 323 - 325
40.	जयरत्नगणि	ज्वरपराजय, दोषरत्नावली	1605	संस्कृत	''	''	ज्वर चिकित्सा ज्योतिष	जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग - 5, पृ. 180
41.	लक्ष्मीकुशल	वैद्यकसार रत्नप्रकाश	1637	गुजराती	''	''	रोग चिकित्सा	जैन गुर्जर कविओं भाग - 1
42.	श्रीकण्ठ सूरि	वैद्यकसार संग्रह (हितोपदेश)	16 वीं श.	संस्कृत	''	मुद्रित	''	जैन आयुर्वेद साहित्य का इतिहास, डा. राजेन्द्र भटनागर, पृ. 107
43.	पूर्णसेन	योगशतक पर संस्कृत टीका	''	''	''	-	''	भंडारकर ओ.रि.इ. पूना में हस्तप्रति ग्रंथांक 185, 1073, 1886 - 92, अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर में भी हस्तप्रति संग्रहीत
44.	हर्षकीर्तिसूरि	योगचिंतामणी	1605	''	''	प्रकाशित	''	वेंकटेश्वर प्रेस मुम्बई से 1940 में
45.	हस्तिरुचि	वैद्यवल्लभ	1669 ई.	''	''	-	स्त्री रोग	भ.ओ.रि.इ. पूना में संग्रहीत The Jain Antiguary Vol. XIII No.1, 1947, p.100

46.	रामचन्द्र	रामविनोद (राजस्थान हिन्दी), वैध विनोद (संस्कृत), नाड़ी परीक्षा	1763 ई.	राजस्थान हिन्दी, संस्कृत	उपलब्ध	रामविनोद प्रकाशित	चिकित्सा	रामविनोद लखनऊ से प्रकाशित, वैध विनोद का हस्तप्रति ज्ञानसागर भंडार, बीकानेर में उपलब्ध
47.	धर्मवर्द्धन	डंभक्रिया	1683 ई.	राजस्थानी	''	''	शल्य क्रिया	1959 में धर्मवर्द्धन ग्रंथावली के नाम से बीकानेर से प्रकाशित
48.	लक्ष्मविल्लभ	काल ज्ञान, मूत्र परीक्षा	1684 ई.	राजस्थानी	''	''	चिकित्सा	चैनसुखदास स्मृति ग्रंथ, पृ. 284 - 285
49.	नयनशेखर	योगरत्नाकर, वैद्यवृन्द, वैद्यामृत, ज्वर निर्णय, ज्वरात्रिशती, टीकाएं	1679 ई.	गुजराती	''	-	-	योगरलाकर की हस्तप्रति उपलब्ध, जैन गुर्जर कविओं भाग - 2, पृ. 351
50.	मान	कवि प्रमोद, कवि विनोद, वैद्यक सार संग्रह	1698 ई.	हिन्दी राजस्थानी	''	अप्रकाशित	रोग निदान चिकित्सा	बीकानेर में हस्तप्रति संग्रहित। नागरी प्रचारिणी सभा के 14 वें खोज विवरण में पृ. 617 व 15 वें खोज विवरण में पृ. 47 पर
51.	मथेन राखेचा	हस्त्यायुर्वेद (गजशास्त्र), अमर सुबोधनी टीका	1671 ई.	गुजराती	''	-	हाथियों के रोग संबंधी चिकित्सा	अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर में हस्तप्रति उपलब्ध, जैन आयुर्वेद साहित्य का इतिहास, राजेन्द्र भटनागर, पृ. 128
52.	हेमनिदान	सन्निपातकलिका स्तबक (टीका)	1676 ई.	-	''	अप्रकाशित	चिकित्सा	जिनपरित्र सूरि ज्ञान भंडार, बीकानेर में हस्तप्रति उपलब्ध, डॉ. राजेन्द्र भटनागर जैन आयुर्वेद साहित्य का इतिहास, पृ. 128 - 132
53.	ज्ञानमेरन	माधवनिदान पर टीका	17 वीं श.	-	''	''	''	दान सागर भंडार बीकानेर में हस्तप्रति उपलब्ध
54.	जिनसमुद्र सूरि	वैद्यचिंतामणी (संग्रह ग्रंथ)	1680 ई.	राजस्थानी	उपलब्ध (अपूर्ण)	''	''	जैन बड़ा मंदिर जैसलमेर में हस्तप्रति जैन आयु. साहित्य का इतिहास, राजेन्द्र भटनागर, पृ. 128 - 132
55.	विनयमेरुगणि	विद्वन्मुखमंडनसा (संग्रह ग्रंथ)	17 वीं श..	संस्कृत	उप. (अपूर्ण)	''	योग चिकित्सा	रा.प्रा.वि. प्रतिष्ठान जोधपुर, जैन गुर्जर कवियों भाग - 3, खण्ड - 1, पृ. 914

56.	मंगराज	सामुद्रिक शास्त्र	''	हिन्दी	उप.	''	-	अभय जैन ग्रंथालय में हस्तप्रति (बीकानेर) जैन आयु. साहित्य का इतिहास, डा. राजेन्द्र भटनागर, पृ. 179
57.	हंसराजमुनि	द्रव्य संग्रह पर बाल बोध टीका, भिषक्चचित्तोत्सव (हंसराजनिरम), चिकित्सोत्सव	17 वीं. श. पूर्वाद्ध	संस्कृत	1 - 2 उप., 3 अनु.	अप्रकाशित (भिषक्च) प्रकाशित	योग चिकित्सा	भिषकचिकित्सोत्सव नवलकिशोर प्रेस लखनऊ व वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई से 1979 में प्रकाशित
58.	पीताम्बर	आयुर्वेदसार संग्रह	1702 ई.	मेवाड़ी (गद्य में)	उपलब्ध	अप्रकाशित	वानस्पति प्रयोग	गुजराती में भाषान्तर कर 'आयुर्वेदनों अद्भूत प्रयोग नाम से पालीताणा ग्रंथ माला से प्रकाशित
59.	दासकवि	वैद्यकसार	1705 ई.	राजस्थानी	उपलब्ध	अप्रकाशित	चिकित्सा	अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर। गोरीशंकर होराचन्द ओझा - बीकानेर राज्य का इतिहास भाग - 1, पृ. 52
60.	समरथ	शालीनाथकृत रसमंजरी पर रसमंजरी टीका	1707 ई.	हिन्दी पद्यमय	''	''	-	अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर में हस्तप्रति। राजस्थान हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग - 2, पृ. 137 - 140
61.	श्रीधरदेव	वैद्यामृत (चम्पूरूप)	1500 ई.	कन्नड	''	''	चिकित्सा	पंडुबसंदि मूडबिद्री ग्रंथलय में संग्रहीत
62.	पद्मण पंडित (पद्मण)	ह्यसार समुच्चय	अज्ञात	-	-	-	विषयक	-
63.	कवि पार्श्व	योगरत्नावली	अज्ञात	कन्नड	अपूर्ण	-	-	जैन मठ मूडबिद्री ग्रंथ क्रमांक 852
64.	अभिनवचंद्र	अश्व शास्त्र	1400 ई.	कन्नड	अनु.	-	घोडे की चिकित्सा	-
65.	वाहटक	औषध, गुण पाठ	अज्ञात	लिपि - कन्नड़, भाषा संस्कृत	उपलब्ध	अप्रकाशित		मूडबिद्री में नेमिराज सेट्टी के पास
66.	क्षेमी	क्षेमकुतूहल निघंटू	1605 ई.	कन्नड़	-	-	पाक शास्त्र	मुनि कांतिसागर - अज्ञात आयुर्वेद साहित्य
67.	देवेन्द्र मुनि	बालगृह चिकित्सा	1605	कन्नड़	-	अप्रकाशित	बाल चिकित्सा	जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग - 2, पृ. 373
68.	कवि साल्व	वैधसाङ्गात्य	1550 ई.	''	उपलब्ध	''	-	-
69.	वररुचि	योगशतक	-	संस्कृत, कन्नड	''	''	-	कन्नड़ लिपि की हस्तप्रति पं. नेमिराज सेट्टी के पास, जैन आयुर्वेद साहित्य की परम्परा, डॉ. तेजसिंह गौड़

संदर्भ ग्रंथ –

1. ऋग्वेद, 10,166
2. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग - 1, सागर, 1974, पृ. 15
3. आंचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्यांनांग, अन्तःकृद्दग, अनुत्तरोपवादिकांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्र, दृष्टिवादांग।
4. स्थानांगसूत्र स्थान 4 उद्देश्य 1 -
   दृष्टयो दर्शनानि नया वा अच्यन्ते अभिधीयन्ते पतन्ति वा अवरन्तियगासौ दृष्टिवादो दृष्टिपातो वा। प्रवचन पुरूषस्य द्वादशाङ्गे।
5. जैन आयुर्वेद साहित्य का इतिहास - डॉ. राजेन्द्र भटनागर, 1984, उदयपुर पृ. 11
6. स्थानांगसूत्र स्थान 4, 404, विपाकसूत्र 7, पृ. 41, पद्मानन्दमहाकाव्य 6.17 पर उद्धृत, स्थानांङ्गवृत्ति पृ. 428
7. सर्वोषधीरसवीर्यविपाक ज्ञानदीपकम्। अप्यायुर्वेद्यष्टाङ्गमध्यैष्टाडक ष्टमेवसः॥ त्रिषष्टिशलाकाचारित्र 2.3.30
8. द्वयाश्रयकाव्य 16.95।
9. कषायपाहुड, जयधवला टीका, मथुरा, पेज्जदोसविहत्ती, गाथा 1, 113
10. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास - डॉ. मोहनलाल जैन - भाग - 2, वाराणसी, पृ. 51 - 52
11. जैन आयुर्वेद साहित्य का इतिहास - डॉ. राजेन्द्र भटनागर पृ. 13
12. कल्याणकारक - उग्रादित्याचार्यकृत, सम्पा. पं. व्ही.पी. शास्त्री, सोलापुर, 1940
13. वही पृ. 25 - 26
14. वही पृ. 1 - 10
15. वही पृ. 1 - 9 / 10
16. सारणी लेख के अंत में संलग्न है।
17. कल्याणकारक 20 / 85
18. वही 20 / 85
19. आयुर्वेद के विषय में जैन दृष्टिकोण और जैनाचार्यों का योगदान - आचार्य राजकुमार जैन, आ. रत्न श्री देशभूषणजी महाराज, अभिनन्दन ग्रंथ, दिल्ली, 1987, पृ. 169 - 170
20. सुश्रुत संहिता सूत्र स्थान - अ. 4 / 7
21. पद्मानन्दमहाकाव्य 6.25.93
22. (ए) पद्मा 6.25.94
    (बी) सोऽभूत तथाऽप्यौषधमग्रहीन्न देहानपेक्षाहि मुमुक्षवः स्युः। पद्मा 6.37
23. प्रत्यङ्गमभ्यङ्गनिषङ्गरोग घाताय तैलं व्यलसत् तदन्तः। पदमा 7.75।
24. पद्माकर महाकाव्य - 6.77, 6.76, 6.85, 6.80, 6.68, 6.83, 6.89, 6.79, 6.82, 6.86, 6.88, 6.93
25. हम्मीरमहाकाव्य 4.71 यशोधरचरित 2.70।
26. शोध प्रबन्ध के अध्याय 4 व 5 में विस्तृत वर्णन
27. जगदीशचन्द्र जैन ने अपनी पुस्तक ''जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज'' में स्वतंत्र अध्याय के रूप में जैन आयुर्वेद साहित्य का वर्णन किया है।
28. कल्याणकारक, उग्रदित्याचार्य कृत, वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, सोलापुर, 1940, 1/9 - 10
29. आयुर्वेद का वृहद इतिहास, अत्रिदेव विद्यालंकार, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ. 461.

प्राप्त : 4.4.99

हमारे नवीन प्रकाशन

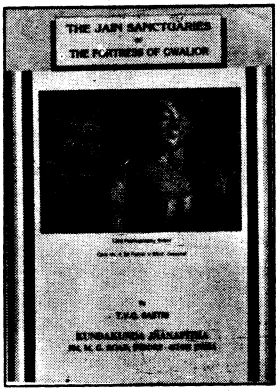

THE JAIN SANCTUARIES OF THE FORTRESS OF GWALIOR

By - **Dr. T.V.G. SASTRI**

- Price -

Rs. 500.00 (India)

U.S.$ 50.00 (Abroad)

I.S.B.N. 81-86933-12-3

JAIN DHARMA - VISHWA DHARMA

By - **Pt. Nathuram Dongariya Jain**

Price - Rs. 20.00

I.S.B.N.81-86933-15-8

मूलसंघ और उसका प्राचीन साहित्य

- लेखक -

पं. नाथूलाल जैन शास्त्री

मूल्य - रु. 70.00

I.S.B.N. 81-86933-14-X

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित साहित्य

	पुस्तक का नाम	लेखक	I.S.B.N.
* 1.	जैनधर्म का सरल परिचय	पं. बलभद्र जैन	81 - 86933 - 00 - X
2.	बालबोध जैनधर्म, पहला भाग संशोधित	दयाचन्द गोयलीय	81 - 86933 - 01 - 8
3.	बालबोध जैनधर्म, दूसरा भाग	दयाचन्द गोयलीय	81 - 86933 - 02 - 6
4.	बालबोध जैनधर्म, तीसरा भाग	दयाचन्द गोयलीय	81 - 86933 - 03 - 4
5.	बालबोध जैनधर्म, चौथा भाग	दयाचन्द गोयलीय	81 - 86933 - 04 - 2
6.	नैतिक शिक्षा, प्रथम भाग	नाथूलाल शास्त्री	81 - 86933 - 05 - 0
7.	नैतिक शिक्षा, दूसरा भाग	नाथूलाल शास्त्री	81 - 86933 - 06 - 9
8.	नैतिक शिक्षा, तीसरा भाग	नाथूलाल शास्त्री	81 - 86933 - 07 - 7
9.	नैतिक शिक्षा, चौथा भाग	नाथूलाल शास्त्री	81 - 86933 - 08 - 5
10.	नैतिक शिक्षा, पांचवां भाग	नाथूलाल शास्त्री	81 - 86933 - 09 - 3
11.	नैतिक शिक्षा, छठा भाग	नाथूलाल शास्त्री	81 - 86933 - 10 - 7
12.	नैतिक शिक्षा, सातवां भाग	नाथूलाल शास्त्री	81 - 86933 - 11 - 5
13.	The Jain Sanctuaries of The Fortress of Gwalior	Dr. T.V.G. Sastri	81 - 86933 - 12 - 3
14.	जैन धर्म - विश्व धर्म	पं. नाथूराम डोंगरीय जैन	81 - 86933 - 13 - 1
15.	मूलसंघ और उसका प्राचीन साहित्य	पं. नाथूलाल शास्त्री	81 - 86933 - 14 - X
16.	Jaina Dharma - Vishva Dharma	Pt. Nathuram Dongariya Jain	81 - 86933 - 15 - 8

* अनुपलब्ध

प्राप्ति सम्पर्क : कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, 584, महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर - 452 001

वर्ष - 12, अंक - 3, जुलाई 2000, 29 - 34

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

प्रमुख जैन पुराणों में प्रतिपादित राजा के गुण - दोष

■ सरोज चौधरी *

राज्य के उत्तरदायित्व को वहन करने के लिये राजा में ऐसे गुण होना चाहिये, जिससे कि वह राज्य का संचालन सम्यक प्रकार से सम्पन्न कर सके। इसी कारण प्राचीन मनीषियों ने भी राजाओं के गुणों का निर्धारण किया है। जैन पुराणों में भी राजाओं के गुणों का विस्तृत वर्णन किया गया है। विभिन्न विद्वानों का विचार है कि राजा एक ऐसा व्यक्ति होता है जो राजसत्ता की उन शक्तियों को अपने में निहित रखता है जिसके द्वारा राज्य का संचालन और नियमन होता है। राज्य के संचालन से अभिप्राय विधिवत अर्थ और काम से है, इतना ही नहीं राजा का अस्तित्व सत्ता के व्याप्त होने से है। गुणी राजा दुष्टों का निग्रह करता है और सज्जन पुरुषों को प्रश्रय देता है।

पद्मपुराण में वर्णित राजा के गुण

पद्मपुराण में राजा के गुणों का वर्णन करते हुए पुराण प्रणेता रविषेणाचार्यजी ने लिखा है कि राजा को नीतिज्ञ, शूरवीर और अहंकार रहित होना चाहिये। शूरवीरता के द्वारा राजा समस्त लोगों की रक्षा करता है। राजा को जैन धर्म के रहस्य का ज्ञाता, शरणागत वत्सल, परोपकारी, दयावान, विद्वान, विशुद्ध हृदयी अर्थात् विशाल हृदय वाला, निंदनीय कार्यों से पृथक, पिता के तुल्य प्रजारक्षक प्राणियों की भलाई में तत्पर शत्रु संहारक शस्त्रास्त्र का अभ्यासी शांति कार्य में अभ्यस्त, परस्त्री से विरत, संसार की नश्वरता के कारण धर्म में रूचिवंत, सत्यवादी और जितेन्द्रिय होना चाहिये।[1] राजा को नीतिपूर्वक कार्य करने वाला होना चाहिये। समुद्र के समान गम्भीर परमार्थ को जानने वाला श्रेष्ठ राजा माना गया है। राजा में सब वर्ण, धर्म, कल्याण प्रकृति, कलाग्राही, लोकधारी, प्रतापी, धनी, व्यायाम से अभिमुख, आपत्ति के समय व्यग्रतारहित, विनम्र, मनुष्य का सम्मानदायी, सज्जनों का प्रेमदानी, हस्तिमदमर्दन आदि गुणों से संयुक्त होना चाहिये।[2] इसी पुराण के अनुसार राजा के इस विशिष्ट गुण का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह ब्राह्मण, मुनि, निहत्थे व्यक्ति और स्त्री, बालक, पशु एवं दूत के ऊपर प्रहार नहीं करता है।[3] इसी पुराण के अनुसार श्रेष्ठ राजा को लोकतंत्र, जैन व्याकरण एवं नीतिशास्त्र का ज्ञाता, महान गुणों से विभूषित होना चाहिये।[4] राजा प्रचुर कोश का स्वामी, शत्रु विजेता, अहिंसक धर्म का पालन कर्ता, सत्यवादी एवं जीवों का रक्षक होता है इसलिये उन्हें रक्षक कहा है। पिता के समान न्याय वत्सल, प्रजा की रक्षा करना, विचारपूर्वक कार्य करने वाला, दुष्ट मनुष्य को कुछ देकर वश में करना, स्नेहपूर्ण व्यवहार द्वारा आत्मीयजनों को अनुकूल रखने वाला, क्षमा से क्रोध को, मार्दव से मान को, आर्जव से माया को, संतोष से लोभ को वश में करने वाला, राजा के ये गुण माने जाते हैं।[5]

आदिपुराण में प्रतिपादित राजा के गुण

आदिपुराण में राजा के गुणों का वर्णन करते हुए आचार्य जिनसेन स्वामी लिखते हैं कि राजा अनुराग अथवा प्रेम से अपने मंडल (देश) को धारण करता है।[6] राजा को अग्रगामी होना चाहिये। यदि राजा आगे चलता है तो अल्पशक्ति के धारक लोग भी उसी

* शोध छात्रा - कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, 584, महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर। निवास - 1/5, छोटी ग्वालटोली, इन्दौर

कठिन रास्ते से चलने लगते हैं।[7] क्षत्रिय पुत्र को जिसे कोई हरण न कर सके ऐसे यशरूपी धन की रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि इस पृथ्वी में निधियों को गाड़कर अनेक लोग मर चुके हैं। जो रत्न एक हाथ पृथ्वी तक भी साथ नहीं जाते और जिनके लिये राजा लोग मृत्यु प्राप्त करते हैं, ऐसे रत्नों से क्या लाभ?[8] राजाओं को वृद्ध मनुष्यों की सलाह मानना चाहिये क्योंकि उनकी स्थिति विद्या की अपेक्षा बहुत अनुभव की होती है।[9] प्रेम और विनय, इन दोनों का मिलन कुटुम्बी लोगों में ही संभव हो सकता है। यदि उन्हीं कुटुम्बी लोगों में विरोध हो जाये तो उन दोनों की गति नष्ट हो जाती है।[10] राजाओं को अपने सम्मान का ध्यान रखना चाहिये। तेजस्वी मनुष्य को जो कुछ अपनी भुजा रूपी वृक्ष का फल मिलता है उसके लिये मोह रूपी लता का फल अर्थात् मोह के इशारे से प्राप्त हुआ चार समुद्र पर्यंत पृथ्वी का ऐश्वर्य भी प्रशंसनीय नहीं है। जिस प्रकार (डूण्डभ) पनिया सांप, सांप शब्द को निरर्थक करता है उसी प्रकार जो मनुष्य राजा होकर भी दूसरे की आज्ञा से अपहृत हुई लक्ष्मी को धारण करता है, वह 'राजा' शब्द को निरर्थक करता है।[11] उत्तम राजा पराक्रम युक्त, गंभीर, उच्चवृत्ति वाला और मर्यादा सहित होता है।[12] वह केवल प्रजा से कर ही नहीं लेता अपितु उसे देता भी है। वह प्रजा को दंड नहीं देता अपितु उसकी रक्षा भी करता है। इस प्रकार धर्म के द्वारा उसकी विजय होती है।[13]

महापुराण के अनुसार राजा के गुण

महापुराण के कथनानुसार राजा अपने चित्त का समाधान करते हुए दुष्ट पुरुषों का निग्रह और श्रेष्ठ पुरुषों का पालन करता है, वही उसका समज्जसव्व गुण है।[14] इसी पुराण के अनुसार राजाओं में छह गुण - संधि, विग्रह, यान, संस्था और द्वेधीभाव का होना अनिवार्य माना गया था। इसी पुराण के अनुसार राजा को साम, दाम, दंड एवं भेद का ज्ञान और सहाय साधनों, देश विभाग, काल विभाग तथा विनिपात प्रतिकार आदि पांच अंगों से निर्णित संधि एवं विग्रह और युद्ध के रहस्य का ज्ञान होना चाहिये।[15]

हरिवंश पुराण में प्रतिपादित राजा के गुण

हरिवंशपुराण के रचयिता जिनसेनाचार्य 'राजा' के गुणों का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि सूर्य सी प्रभा जिस महापुरुष में होती है वह 'राजा' बनने की योग्यता रखता है तथा जो पुरुषार्थ की भावना से ओतप्रोत है एवं प्रजा के सभी कष्टों का निवारण करने के लिये तत्पर रहता है वही राजा होने की पात्रता रखता है। आगे वे लिखते हैं कि राजा के गुणों की तुलना किसी से भी नहीं की जा सकती है। राजा को धर्माचार्य होना चाहिये क्योंकि दूसरों का हित-अहित जानने वाले राजा ही राज्य व्यवस्था करने में सफल होते हैं, अन्य नहीं।[16] यदि हाथी, घोड़ा, स्त्री आदि कोई वस्तु संसार में अमूल्य हो और प्रजा के योग्य न हो तो राजा के लिये हितकारी है। जिस प्रकार समुद्र हजारों नदियों और उत्तम रत्नों की खान है, उसी प्रकार राजा भी इस लोक में अनर्घ्य वस्तुओं की खान है। **'कैसा है राजा सिद्ध भये है पुरुषार्थ जाके अरु जो सब अर्थ का देखनहारा है, राजा के गुण अतुल हैं, जिन गुणन करि वह नरधिवति त्रैलोक्य के गुरु जो वर्धमान है तिनका गुरु पिता होता भया।'**[17]

उत्तरपुराण में वर्णित राजा के गुण

आचार्य गुणभद्रजी के अनुसार राजा को आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दंड - इन चार विद्याओं में पारंगत होना चाहिये। जिसकी प्रजा दंड के मार्ग में नहीं जाती और इस कारण जो राजा दंड का प्रयोग नहीं करता वह श्रेष्ठ माना जाता है।[18] राजा को दानी

होना चाहिये। श्रेष्ठ राजा की दानशीलता से पहले के दरिद्र मनुष्य भी कुबेर के समान आचरण करते थे।[19] राजा संधि, विग्रहादि गुणों से सुशोभित हो।[20] पुण्यवान राजा का शरीर और राज्य बिना वैद्य एवं मंत्री के भी कुशल रहते हैं। राजा का धन दान देने में, बुद्धि धार्मिक कार्यों में, शूरवीरता प्राणियों की रक्षा करने में, आयु सुख में और शरीर भोगोपभोग में वृद्धि को प्राप्त होता रहता है।[21] राजा के पुण्य की वृद्धि दूसरे के आधीन न हो, कभी नष्ट न हो और उसमें किसी तरह की बाधा न आये ताकि वह तृष्णारहित होकर गुणों का पोषण करता हुआ सुख से रहे।[22] जिस राजा के वचन में सत्यता, चित्त में दया, धार्मिक कार्यों में निर्मलता हो तथा जो प्रजा की अपने गुणों के समान रक्षा करे, वह राजर्षि है।[23] सज्जनता राजा का स्वाभाविक गुण हो। प्राणहरण करने वाले शत्रु पर भी वह विकार को प्राप्त न हो।[24] बुद्धिमान राजा सब लोगों को गुणों के द्वारा अपने में अनुरक्त बनाये ताकि सब लागे उसे प्रसन्न रखें।[25] जिस प्रकार मुनियों में अनेक गुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार सदाचारी और शास्त्रज्ञान से सुशोभित राजा में अनेक गुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा जिस प्रकार संस्कार किये हुए मणि सुशोभित होता है उसी प्रकार राजा अनेक गुणों से सुशोभित होता है।[26] नीति को जानने वाले राजा को इन्द्र और यम के समान कहते हैं किन्तु इन्द्र के समान राजा श्रेष्ठ है क्योंकि उसकी प्रजा गुणवती होती है और राज्य में कोई दंड देने योग्य नहीं होता है।[27] राजा न्यायोपार्जित धन के द्वारा याचकों के समूह को संतुष्ट करे।[28] समीचीन मार्ग में चलने वाले राजा के अर्थ और काम भी धर्मयुक्त होते हैं अत: वह धर्ममय होता है।[29] उत्तम राजा के वचनों में शांति, चित्त में दया, शरीर में तेज, बुद्धि में नीति, दान में धन, जिनेन्द्र भगवान में भक्ति तथा शत्रुओं में प्रताप रहता है।[30] जिस प्रकार संसार का हित करने वाले सब प्रकार के धान्य समामय[31] की वर्षा को पाकर श्रेष्ठ फल देने वाले होते हैं उसी प्रकार समस्त गुण बुद्धि को पाकर श्रेष्ठ फल देने वाले होते हैं।[32] राजा का मानभंग नहीं होना चाहिये। जिस प्रकार दांत का टूट जाना सिंह की महिमा को तिरोहित कर देता है अर्थात् छिपा देता है।[33] नीतिशास्त्र सम्बन्धी अर्थ का निकाय करने में राजा का चरित्र उदाहरण[34] स्वरूप होना चाहिये। उत्तम राजा के राज्य में प्रजा भी न्याय का उल्लंघन नहीं करती, राजा न्याय का उल्लंघन नहीं करता। जिस प्रकार वर्षा से लताएँ बढ़ती हैं, उसी प्रकार राजा की नीति से प्रजा सफल होकर बढ़ती है।[35] जिस प्रकार आगे की संख्या पिछली संख्याओं से बडी होती हैं उसी प्रकार श्रेष्ठ राजा पिछले समस्त राजाओं को अपने गुणों और स्थानों से जीतकर बड़ा होता है।[36] उसकी समस्त ऋद्धियाँ पुरुषार्थ के आधीन रहती हैं। वह मंत्री आदि मूल प्रकृति तथा प्रजा आदि बाह्य प्रकृति के क्रोध से रहित होकर स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र का विचार करें। तीन शक्तियों और सिद्धियों से उसे सदा योग और क्षेम का समागम होता रहे साथ ही संधि विग्रह आदि छह गुणों की अनुकुलता रखें।[37] अच्छे राजा के राज्य में प्रजा को अयुक्ति आदि पाँच तरह की बाधाओं में से किसी भी प्रकार की बाधा नहीं रहती है।[38] उत्तम राजा का नित्य उदय होता रहता है। उसका मंडल विशुद्ध (शत्रु रहित) और अखंड होता है तथा प्रताप निरन्तर बढ़ता है।[39] ऐसे राजा की रूपाद्रि सम्पत्ति उसे अन्य मनुष्यों के समान कुमार्ग में नहीं ले जाती है।[40] शम और व्यायाम राजा के योग और क्षेम की प्राप्ति के साधन हैं।[41]

उपर्युक्त गुणों के आधार पर कहा जा सकता है कि राजा सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों में सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति होना चाहिये। इस प्रकार के विचार मेरी भावना में कवि जुगलकिशोरजी ने लिखते हुए व्यक्त किये हैं -

'धर्मनिष्ठ होकर भी राजा न्याय प्रजा का किया करे'

राजा के दोष

राज्य का सबसे बड़ा प्रमुख व्यक्ति राजा होता है। उसे सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिये। राजा में पाये जाने वाले गुणों को जानने के बाद राजा में पाये जाने वाले दोष भी जानना आवश्यक है। वे कौन-कौन से दोष हैं जिनके होने पर राजा को अपना पद ही नहीं बल्कि राज्य और जीवन से भी हाथ धोना पड़ते हैं।

पद्मपुराण में रविषेणाचार्य ने राजा के दोषों का निरूपण करते हुए सीता द्वारा कहलाया है कि यह विद्याधरों का राजा ही जहाँ अमर्यादा का आचरण कर रहा है वहाँ दूसरा कौन शरण हो सकता है।[42] विभीषण द्वारा समझाने पर भी राजा उसका अनादर करता है। विभीषण कहते हैं कि - 'हे स्वामिन! हे परमेश्वर! परस्त्री के कारण आपकी यह निर्मल कीर्ति संध्याकालीन मेघ की रेखा के समान क्षणभर में नष्ट न हो जाये इसलिये शीघ्र ही सीता राम को लौटा दीजिये।' विभीषण की सभी अवहेलना करते हैं। रावण कहते हैं कि अग्नि के समान अपने आश्रय का अहित करने में तत्पर ऐसा दुष्ट शीघ्र ही मेरे नगर से निकल जाये।[43] राजा रावण नीतिवान होते हुए भी एक परस्त्री के प्रति गलत विचार के कारण राज्य से नहीं, अपने जीवन से भी हाथ धो बैठता है। आज तक उसका यह दोष दोहराया जाता है। मानव जीवन के इतिहास में उसके इस कृत्य को घृणित दृष्टि से आंका जाता है।

आदि पुराण के अनुसार राजाओं में प्राय: निम्नांकित दोष पाये जाते हैं -

- सदा तृष्णा से युक्त होना
- मूर्ख मनुष्यों से घिरे रहना
- पूज्यजनों, गुरुजनों का तिरस्कार करना
- अपनी जबरदस्ती दिखलाना
- अपने गुण तथा दूसरों के दोषों को प्रकट करना[44]
- अधिक कर लेना
- अस्थिर प्रकृति का होना
- दूसरों के अपमान से मलिन हुई विभूति को लेना
- कठिनाई से दर्शन का होना
- पुत्र का कुपुत्र होना
- सहायक मित्र तथा दुर्ग आदि आधारों से रहित होना
- चंचल, निर्दय , असहनशील और द्वेषी होना
- बुरे लागों की संगति करने वाला
- विषय भोग, खोटे मार्ग में चलने वाला
- बिना काम के प्रत्येक कार्य में आगे आना वाला

उत्तर पुराण में राजा के दोष बताते हुए गुणभद्राचार्य ने कथन किया है कि दोषी या अन्यायी राजा सबको संताप देने वाला, कठोर टेक्स लगाने वाला, क्रूर (अनवस्थित), कभी संतुष्ट और कभी असंतुष्ट रहने वाला तथा पृथ्वी मंडल को नष्ट करने वाला होता है।[45] इसके फलस्वरूप अपना देश, धन, बल, रानी सब हार जाता है।

क्रोध से उत्पन्न होने वाले जुआ, चोरी, वेश्या और परस्त्री सेवन इन चार व्यसनों में से जुआ खेलने के समान और कोई नीच व्यसन नहीं है। जुआ खेलने वाला सबसे प्रथम सत्य महागुण को हारता है, पीछे लज्जा, अभिमान, कुल सुख, सज्जनता, बंधुवर्ग, धर्म, द्रव्य, क्षेत्र, घर, वंश, माता-पिता, बाल-बच्चे, स्त्रियाँ और स्वयं अपने को हारता है। राजा निकृष्ट से निकृष्ट कार्य करने लगता है, अपने राज्य को भी हार बैठता है। पांडव पुराण में पाँचों पांडव राजाओं को जुआ जैसे दुर्व्यसन के कारण अपना राज्य और प्राणों से प्यारी स्त्री छोड़ना पड़ी। जीवन्धर चरित्र में राजा सत्यंधर को विषयासक्त होने पर अपनी रानी, पुत्र और राज्य से हाथ धोने पड़े और जीवन भी समाप्त करना पड़ा।

इस प्रकार उपर्युक्त दुर्गुण राजा में पाये जाते हैं जिससे उनका व्यक्तिगत जीवन का पतन तो निश्चय से होता है साथ ही देश का भी शीघ्र पतन हो जाता है। नीति वाक्यामृत में सोमदेव सूरि ने उचित ही लिखा है - **'संसार में राजा का न होना अच्छा है किन्तु मूर्ख राजा का होना अच्छा नहीं क्योंकि संसार में अज्ञानता से बढ़कर कोई दूसरा दुःख है ही नहीं।'** [46]

सन्दर्भ सूची

1. पद्म पुराण, रविषेणाचार्य, अनु.-डॉ. पन्नालाल जैन 'साहित्याचार्य', भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 1989, भाग-3, पर्व 28, श्लोक 20-24, पृ. 218
   जिन शासन तत्वज्ञ शरणागत वत्सल।
   सत्यस्थायितौसद्वाक्यौ बाढ़ नियमितेन्द्रियः॥
2. पद्म पुराण, भाग-1, सर्ग-2, श्लोक 51-53, पृ. 14
3. पद्म पुराण, भाग-3, सर्ग-66, श्लोक 90, पृ. 7
4. पद्म पुराण, भाग-3, पर्व 72, श्लोक 88
   सर्वेषु नमशास्त्रेषु कुशलों लोकतंत्रावित्॥
   जैन व्यकरणाभितो महागुण विभूषितः॥
5. वही, भाग-3, पर्व 97, श्लोक 128-130, पृ. 211
6. आदि पुराण भाग 1-2, जिनसेनाचार्य, अनु. पन्नालाल जैन 'साहित्याचार्य', भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 1988, भाग-2, पर्व 35, श्लोक 175, पृ. सं. 189 (35/175)
7. आदि पुराण, भाग-3, पर्व 35, श्लोक 46-49, पृ. 450
8. वही, भाग-3, पर्व 35, श्लोक 129-131, पृ. 184
9. वही, भाग-3, पर्व 28, श्लोक 137, 4/124, पृ. 48
10. वही, भाग-3, पर्व 35, श्लोक 105-106, पृ. 182
11. वही, भाग-3, पर्व 35 श्लोक 112-113
12. वही, भाग-3, पर्व 28, श्लोक 91, पृ. 43
13. वही, भाग-3, पर्व 43, श्लोक 129, पृ. 363
14. महापुराण, जिनसेनाचार्य, अनु.-डॉ. पन्नालाल जैन, 'साहित्याचार्य', भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 42/199, पृ. 348
   राजा चित्तं समाधाय यत्कुर्याद दुष्टनिग्रहम्।
   शिष्यनुपालनं चैव तत्सामज्जस्य मुच्यते॥
15. वही, सर्ग 44, श्लोक 129-130, पृ. 398, 399

16. हरिवंश पुराण, जिनसेनाचार्य, अनु. - डॉ. पन्नालाल जैन 'साहित्याचार्य', भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1962, 219 - 290
17. वही, 15 - 16
18. उत्तर पुराण, गुणधराचार्य, अनु. - डॉ. पन्नालाल जैन 'साहित्याचार्य', भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1944, 51/5
19. वही, 52/6, पृ. 33
20. वही, 52/9, पृ. 33
21. वही, 54/112, पृ. 52
22. वही, 54/112, पृ. 59
23. वही, 54/113
24. वही, 54/114
25. वही, 54/115
26. वही, 55/6
27. वही, 55/8
28. वही, 55/10
29. वही, 56/7
30. वही, 57/16
31. वही, 57/4
32. वही, 58/26
33. वही, 58/74
34. वही, 59/4
35. वही, 62/31
36. वही, 62/33
37. वही, 62/34
38. वही, 66/69
39. वही, 76/112
40. वही, 52/8
41. वही, 57/4
42. पद्म पुराण, रविषेणाचार्य, अनु. - डॉ. पन्नालाल जैन 'साहित्याचार्य', पृ. 253
43. वही, पृ. 353
44. आदि पुराण, भाग - 2, पर्व 35, जिनसेनाचार्य, अनु. - डॉ. पन्नालाल जैन 'साहित्याचार्य', 28 - 30
45. उत्तर पुराण, 76/191
46. नीतिवाक्यामृत में राजनीति, सोमदेव सूरी, अनु. - पं. सुन्दरलाल शास्त्री, श्री महावीर जैन ग्रन्थमाला, 23, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1950,5/38

प्राप्त - 26.4.2000

ARHAT VACANA
Kundakunda Jñānapītha, Indore

Vol. 12, No. 3, July 2000, 35-46

THE EARLY KADAMBAS AND JAINISM IN KARNATAKA

■ A. Sundara *

Preliminary Remarks

The Early Kadambas as known from one of their Sanskrit pillar inscriptions in Talagunda, now a small village in Shikaripura taluka, Shimoga district (Karnataka), were the natives of the place. They were orthodox *śrotiya brāhmaṇas* devoutly practising Vedic rites and following the traditions. Beside their home was a Kadamaba tree (Anthocephalus Kadamba). In course of time, they, therefore came to be known as the Kadambas, naturally of course, for easy location of their home and recognition. The place was an *agrahāra*, a centre of Vedic learning and studies.

In the 5th decade of 4th century, a certain Mayūra Śarma of the Kadamba family along with Vīra Śarma, his father, left for Kanchi, the capital of the Early Pallavas, also a celebrated *Ghaṭikāsthāna* in South India, for higher studies in the Vēdas and the related subjects. One day, a Pallava Commander-in-Chief of horse contingent, arrogantly misbehaved with Mayūra Śarma, young and proud. The latter who was deeply conscious of superiority of the spiritual power earnestly pursued by *brāhmaṇas* to martial might of the warrior class, could not simply swallow the insult. He steadily took to arms, rebelled against the Pallavas and eventually succeeded in wresting the western part of the mid South India extending from the Western sea to the region of the Srisaila in the east from them. In fact he was declared king by the adversaries and crowned by them. Thus was founded an independent kingdom for the first time in Karnataka, by the Kadambas. Banawasi, now a small village in Sirsi tk. Uttara Kannada dt. Karnataka, was the capital of the kingdom. The kingdom grew still larger and was ruled by as many as nine kings in succession, of the main branch of the family upto the mid 6th cent when they were subjugated by the powerfully growing Chalukyas from Badami region. There were, of course, one or two collateral branches of the family from Śanti Varma, the 6th ruler onwards ruling from other centres not indisputably and correctly identified.

Similarly, in the south - eastern part of the present Karnataka, was founded, more or less, at the same time another independent kingdom by another orthodox family, the **Gangās.** As narrated in one of their 11th cent Kannada inscriptions of Kallur near Shimoga city, the kingdom was founded by two young brothers,

* Director-Karnataka University, P.G. Centre, Sholapur Road, Bijapur-586 103

Dhadiga and Mādhava, with the blessings of and under the guidance of the Simhanandi, a great *Jainācharya* of the times in the region.

The Jainas in the Kingdom

Coming back to the Kadambas, apart from Banavasi, in the principal capital, there were a few sub-capitals of which Halshi, now a small village in Khanapur tk. Belgaum dt. then known as Palāśika, was the most well known. Here was a Jaina establishment principally comprising the Kūrchakas, the Nirgranthas, the Śvētapatahas and the Yāpanīyas known for their very simple, clean, noble conduct and exemplary religious life characterised by the principles of *ahimsā* etc. the basic value of the Jaina religion.

There were also few Jaina men of distinction in high positions serving the Kadamba kings, as for instance Srutakirti, the *senāpati* Damakirti, the *bhojaka*, Jayakīrti, the *pratihāri*, under Kākustha Varma, Mrigeśa Varma, Ravi Varma the fifth, the seventh and eight kings, respectively. Such officers were obviously loyal to the core, to their masters winning their confidence and affection. For instance Kākustha Varma is stated to have been saved from a serious fatal danger by Śrutakīrti. The kings were remarkably liberal while making magnificent grants to the *Jinālayas* in Halshi and elsewhere in the kingdom, at the request of their officers.

Viewed against the ancient history of Karnataka in particular and in India in general, such liberal attitude was just common among the kings and feudatories, great or samll. Right from at least Aśoka, the Mauryan emperor, (c.273-236 B.C.), irrespective of their personal affiliation did treat all religious equally well with tolerance and reverence. In fact, many kings in Karnataka were keen on acquiring the title worthily, *Chatussamayaḥ*[7], i.e. one who looks after all religions equally well such as the *Śaiva*, the *Vaiṣṇava*, the *Jaina* and the *Bauddha*, the then most prominent religious. And under the Chalukyas, the Rashtrakutas, The Hoysalas, the Vijayanagara kings, there were Jaina officers[8] of distinction, particularly the commander-in-chief. Thus there is nothing special about the Kadambas being generous and tolerant towards the Jaina religion and community.

But a close analysis of the copper plate records of the Kadamba dynasty, and of the contemporary Gangās as well as of the succeeding ruling dynasties, on a comparative basis, indicate certain remarkable of the first towards Jainism. Let us try to review critically these aspects to understand the significance.

Kadambas, the Śrotrīya brāhmaṇas

The copper plate records of the Kadambas provide a fair idea about the family and their proficiency in and practices of the Vedic lore and religious

performances in respect of alomost every individual ruler. In the Talgunda pillar inscription[9] the family is praised as:

'..... Bhūsurādvija pravarah Ssāmarigyajurvēdavadinah yat prāsadastrāyate nityam bhuvanatrayam pāpmano bhayāt " .....atha babhūva dvijakulam ..... vividha yajnāvabhrita punyābhisēkardra mūrdhajām pravachanāvagahā nisnātam vidhivat samiddhāngni sōmapām Pranavapūrva sadvidhāddhyeya nānārdymānāntarālayam" ....."Akrisya chāturmmasāya homesthi pasu pārvana śrāddha pausthikām".

Vira Śarma, the father of Mayūra Śarma/Varma, was *Vedakulamati,* and the latter was *dvijottama, Śritiśila, Sauchādyalamkrita.* When insulted at the hands of the Pallava Horse commander-in-chief being fully conscious of his *varna dharma,* he deplores deeply - *'... Aho bata kṣatrāt paripelava viprāt yatah ..... gurukulam samyagārāddya śākham adhityapi yatnatah brahma siddiryadi nripādina kim atah param dukham II'.*

Raghu, the fourth king of the family, was *śritipathanipuna* and Kākustha Varma, his son, *trivargapatu* Vijayaśiva Mrigeśa[10] Varma was *satyavādi, brahmanyah, dharmajnah* respectively like Pratardana, Visnu the god and Yudhisthirah and Ravi Varma, the eight ruler, was well versed in Kautilya's **Arthaśāstra,** Śubhandu.

The kings were very particular about the protection of *brahmasva* i.e. the grants gifted to brahmanas. Ravi Varma quotes pointedly the opinions from the Dharmaśāstras : *"Brahmasvena visam ghoram na visaih. Visam ekākinam hanti Brahmasvam putrapautrakām..."*

Visnu Varma and his grand son Krishna Varma of the collateral branch are described as *"Parama brāhmana"* and Śivananda Varma is praised as *"Parama Māhēśvara".* The latter embraced death by observing *'Niraśana'* rite. Krishna Varma II, was a *'parama bhāgavata'* and he also quotes from the sacred texts : *"Svasti astu Gobrāhmanebhayah ...".*

From the 5th regnal year of Ravi Varma to the 5th regnal year of Māndhāta, the grand son of Deva Varma, the Kadamba family is credited with the title ; *"..Aśvamēdha avabhritasnāna pavitrī kritānvayah..".* Krishna Varma I actually performed the *Aśavamēdha* sacrifice. And he was making gifts almost continuously to brāhmanas. Aja Varma and Bhogi Varma, the sons of Krishna Varma II (c. 510-540), exhorted that protection of the charities made, is as meritorious as the performance of *Aśvamēdha* sacrifice. Here the comparison is noteworthy, clearly indicating their steadfast faith in the Vedic tradition.

The Śrotriya Kadambas : their patronage to Jainism

Kakustha Varma in response to the request made by Śrutakirti, the *senāpati,*

caused to purchase land from Balovara *kṣetra* belonging to the Jaina *Śvetapaṭas*, gifted to the *Jinālaya* under the charge of the latter, for the purpose of worship. The copper plate record legally announcing the gift, of course as usual. begins with an invocation to the *Jina Tīrthankara* as :

'Jayati bhagavan Jinēndro guṇarundraḥ pratitha parama kāruṇikaḥ'

What is rather noteworthy in the record is again the occurance of the solemn *mangalācharana* in praise of Ādinātha Tīrthaṁkara as :

'Namo Namaḥ Ṛiṣabhāya Namaḥ'

indicating reverential submission to the divine being, an unusual feature in such records. In fact, the invocation introduced, in this record, is frequently repeated a bit more elaborately, in the subsequent records declaring similar grants to the *Jinālayas*, belonging to the reign periods of Mrigeśa Varma and Ravi Varma, indicating the continuation of the tradition, not in a conventional way as found in such records of the subsequent ruling dynasties. It is a s follows :

'Jayati bhagavan Jinēndro guṇarundraḥ pratitha parama kāruṇikaḥ
Trailokyāśvāsakāri dayā patākochhurita yasya II'

And in the records of the reign periods of Viṣṇu Varma and his son, Simha Varma of the collateral branch, the invocations are differently as follows :

'Jayati aviratānta yugapajnāna darśanaḥ Jinēndraḥ
parmaiśvarya nitya vyābadha (saukhyā?) chāraḥ'
and
'Vibhavāmala śitalāni (śśanta?) chhāyā pramoda bhāgavibhāgi
jayati jayakasthānān tribhuvana sakalātapatraṁ iha saddharmaḥ II''

Further, in another copper plate record belonging to Mrigeśa Varma's reign period, it is interesting to note the whole hearted praise of *Jinēndra* as :

'Jayati Arahṁstrilokeśaḥ sarvabhūtahitēratah I
Rāgādi Arahantonantajnāna dṛigīśvaraḥ II'

These reflect the essentials of the Jaina religion and the emphasis on the divine greatness of *Jinēndra*, a noteworthy feature.

Also, it is noteworthy that the grants made by Kākustha Varma to the *Jinendrālaya* in Halashi at the instance of Srutakirti, was later renewed by Śānti Varma, Mrigeśa Varma and Ravi Varma. What is remarkably noteworthy is that Ravi Varma at the time of confirming the grant, issued almost an ordinance like order for the celebration of the annual *Jinēndra Mahimā Kārya*

in *Kārtika* month like national festival regularly with earnestness, devotion and zest by the pious people of towns and villages :

'.... Jinēndra Mahimā kārya pratisaṁvatsaraṁ kramāt aṣṭahakṛita maryyāda Kārtikyantaddhanāgamāt II ..... Dharmmēpsubhirjjānapadaiḥ Jinēndra pūjā satataṁ praṇēya iti sthāpitavān Raviśaḥ.'

The king himself assures the people :

'Yasmin Jinēndra pūjā pravartate tatra tatra deśa parivarddhini nagarānāṁ nirbhayatā taddēśa svāminanchorjja II namo namaḥ II'

Bhānu Varma, the brother to Ravi Varma, also, made land grants for *abhiṣeka* in the *Jinamandira* on full Moon day, in Halshi. Hari Varma (c.519-530) of the main line, virtually the last rular of the independent Kadamba kingdom, gifted land for the celebration of *Astānhika Pūjā* in an *Arhadāyatana* got built by Mṛigeśa, the son of Siṁha *senāpati*, a *'Parama Māhēśvara'* went specially a step ahead in a big way by advocating that meditation as propogated by *Arhat Vardhamāna*, would purify individual from sin ;

'Vardhatāṁ Varddhamānārhacha chhāsanaṁ samyamasanaṁ yēnādyati jagajjiva pāpa puṁja prabhanjanaṁ II
Namorahate Vardhamanāya.'

The Gangās and their patronage to Jainism

Now, let us review how did the contemporary Western Ganga dynasty, extend its patronage to Jainism. As mentioned above, according to the tradition recorded in the eleventh century Kannada inscription[29] in Kallur Dhaḍiga and Mādhava, the two brothers, well versed in Vedic tradition, with blessings of and under the guidance of Simhanandi, the *Jainachārya*, founded a kingdom of their own with Kuvalālapura (i.e. **the modern Kolar, a district head-quarters)** as the capital. Durvinita (c. 529-579) one of the few most able rulers of the dynasty, performed a particular Vedic Yazna *'Hiraṇyagarbha'*. The kings were variously, well versed in may *śastrās:* Kauṭilya's *Arthaśāstra*, medicinal works by *Ātrēya, Dhanvantari* and *Charaka;* science pertaining to horse and elephant by Rājaputra, Sālihotra; Bharata's Nāṭyaśāstra[31]. In music and dance they were like Tumburu, Nārada and Kambalācharya[32]. They were reverential towards God, teachers and brāhmaṇas *('devadvijaguru pūjitayaḥ')*[33]. Probably their family god was **Padmanābha.** But individually, Viṣṇugopa was devoted to the god Nārayaṇa, Mādhava II, to the god Tryambika Durvinita, to the goddess Kātyāyin and Polavira to the god Śankara. A few of the later kings seem to have leanings towards the Jainism. Mārasiṁha was a staunch devotee of Jinēndra ; *'Bhuvanaikamangala Jinēndra Nityābhiṣēkaḥ'*[39]

Mādhava composed an important work : Dattākasūtravṛitti[40] and Durvinita,

Śabdāvatāra and wrote commentarry on the 15 cantoes of one of the *Mahākāvyas*, **Kirātārjunyam**[41] . They, traditionally, wished prosperity to world, cows and *brāhmaṇas ('Śivamastu Gobrāhmaṇeti Lokasya').* They were very particular about the protection and preservation of the *Brāhmadēyas* exhorting people that *'Viṣaṁ ekākino hanti.....Putra pautrakāṁ.*[43] They prefered to be compared in virtues and achievments with the great heros of the bygone ages such as Parasurāma, the ancient sage, Yudhiṣṭhira. Their records as usual end with the imprecatory verses from **Mānava Dharma Śāstra**[44] to ensure the protection of the grants made by rulers. However, as in the records of the early Kadambas, there are no references indicating that they were *Śrotṛiya brāhmaṇas* well versed in the Veda etc. performing the Vedic rites and rituals. But generally rulers of ancient India, irrespective of their *Varṇas : Kṣatriyas, Vaiśyas*, apart from *brāhmaṇas*, usued to be taught and trained in the fashion as mentioned above.

As many as thrity one copper plate records pertaining th the early rulers from Konguni Varma of early 4th century to Polavira of mid seventh century of this dynasty, are known. Of them four[45] speak of the land grants made to *Arhadāyatana / Jinālays / Chaityālaya / Chaitya.* The early records, about twentyfive, are predominantly, concerned with the *Brahmadeyas* (25 nos.). But all the copper plate records of the early and later Ganga rulers upto 1000 A.D. known so for, including those stating about the grants made to the *Jinaālayas*, almost invaribaly begin with the invocation to god, Padmanābha, a form of god Viṣṇu. Only two or three records such as the Tagare copper plates of Polavira, datable to c. mid 7th cent and Naraisimharajapura record of Śripuruṣa of c. 8th cent. begin respectively with invocation to God Śankara and to the Jaina *Syādvāda:*

"Jayati Jagadēkabhānu Syādvādagabhasti dīpitaṁ yēna I
Parasamaya timirapaṭala sāknatkṛita bhuvanēna II"[47]

or with the sacred mantra as; *"Bhadraṁ astu Jina śasanasya"*[48] as in the Biliyuru record of Satyavākya Permanadi dated to 888 A.D. In them excepting the mention of the *Jinālayas;* patronage by certain *Jaina Sanghas* to them such as Mūla, Yāpaniya etc; the *Jaināchāryas* in charge in two or three cases Chandranandyācharya of *Mūlasangha,*[49] Chandaṇandi bhaṭāra[50] the fifth in the lineage of the bhaṭāras from Abhayaṇandi bhaṭāra through Śilabhadra bhaṭāra, Jayanandi bhaṭāra, Gunanandi bhaṭāra of *Deśigana, Kondakundānvaya;* Chandrasena ācharya;[51] and the purpose for which the grants were made, there is astonishingly, nothing about the *Jinēndras* or the Jain festival or religion. The records (out of 128 concerned with the *bramdhēya* grants (45 nos.), temples (19 nos.) and the Jaina basadis (17 nos.) plainly state about the

grants. This looks stange particularly in the light of the founders of the kingdom being obliged to the *Jainācharya* in establishing the kingdom narrated in the later Kallur record referred to above. Even this important matter of Simhanandi *Jainācharya's* guidance and grace is not recounted while speaking about the foundation of the kingdom by Konguni Varma or Mādhava I. In fact, for the first time there is a vague reference[52] to this point in Kulagana record of Śivamāra Ganga, datable to c. seventh - eighth cent as: *"Śramaṇachārya sādhitaḥ sva khadgaika prahārakhandita mahāśila stambha labdha bala parākarama"* and a little more explicitly in Narasimharajapura record of Śripuruṣa datable to c. eight cent. as:

".....Nirgranth vratācharisya (su) rivachanannistrimśa ya sthyākṛiti yo duschhedaṁ akhandayanprithu śilāsthamba bhanjābhyudyataḥ I"[53]

In all the copper plate records datable from fifth cent. to tenth cent. the event is simply stated as either *'Sva Khadgaika ..... parākrama'* mostly or *'Svabhuja jaya janita sujana janapadasya'*, plainly. A little later the point is elaborated clearly in an eleventh cent. Kannada inscription at Kallur as mentioned above. Why the point is not stated clearly right from the beginning with pride and reverence as one would rightly expect, in their records, is to be investigated further.

Now, with regard to the point under discussion, unlike the Kadambas, the Gangas, evidently therefore, like any other subsequent ruling dynasty, were following the tradition of religious tolerance, established long ago (right from the Vedic times and subsequently in keeping with the tradition as exhorted by Asoka, the Mauryan emperor in mid 3rd cent. B.C. : *('So Sayamo eva sādhu'*[54]) and as rulers were treating all religions with equal respect. And as and when gifts were made by the kings or feudatories, the lithic or copper plate records stating such gifts leagally, would simply begin with the most popular *Jinastuti* as :

'Śrimat parama gambhira Syādvādāmogha lānchhanaṁ I
Jiyat Trailokyanāthasya śāsanaṁ Jina śasanaṁ II'

There is generally the mention of the name of a certain *jainācharya*, sometimes his profound learning in Jaina religion and philosophy and his spotless life commanding reverence from all and occasionally his *guru paramparā*, besides the purpose/s for which the grants were made and infrequently the name of the person who got constructed the *Jinālaya*. There would be no particular reference to the grateness of the *Jaina dharma* or obeisance to a particular *Tirthaṁkara*, by the donor etc.

It is in this context, the magnanimous attitude of the early Kadambas

towards Jainism and their sincere praise of the *Tirthamkaras* and of certain practices, by way of contrast, appear unique. Out of their 53 records, of course, 22 state about the *brahmadēyas*, 12 about the grants to *jinālayas* at Palāśika, Kalavanagana Triparvata and Asandyaluru, and two, to the Buddhist *Siddhāyatana*, a *Vihāra* and three, to the temples.

Discussion

In History, these facts need particular attention. For, it is generally said that Jainism and later Buddhism emerged as active reactionary religious sects to the prevalent Vedic religion, particularly towards the existence of god-head i.e. *Brāhma* elaborately spoken in the Vedas as the creator, the Preservor and the Destroyer of the Universe, Vedic ritualism involving animal sacrifice to please the gods and to earn their grace for the final liberation of the soul from the mundane ties. Further, they rejected the Vedas, as the ultimate *pramāṇa*. Especially, the former advocated *Ahimsā* (non-violence) to the core as the cordinal principle and exclusive insistence on self-effort for attaining the final release of the *jiva* from the worldly bondage without ritual, which is possible by any one. The devout followers of the Vedic religion described the two sects as atheistic. In course of time, there were more or less constant frictions all through the centuries between the two sometimes each criticising and at times ridiculing with animosity the other and each claiming superiority over the other. Of course, some religious works of the historical period of these sects do reflect such conditions prevailing here and there but not to the extent and throughout as is generally believed or supposed. In particular, the above facts would go against such prevalent views. Let us try to examine this aspect to know what, in reality, is.

1. Let us review teh records to ascertain if there is any indication that the Kadambas were in any way obliged to some important Jaina persons of eminence who could so profoundly influence and make them express devotionally their reverence to the so called atheistic religion critical of the Vedic tradition. Kakustha Varma is said to have made the land grant to Srutakirti, the *senāpati* for the worship in the *Jinālaya* of which the latter was in charge, for *'ātmastāranarthaim'*[55]. Naturally, therefore, there is nothing strange or special if the king had expressed reverence to *Ādinātha Tirthamkara* at the time of making the grant in the light of the particular event. And this is personal. Similarly, Ravi Varma's grant to the *Jinālaya* in Halshi, was for *'punya vridhyartham'*.[56] And the purpose of Banu Varma's gift was for *'bhūtim ichhatā'*. All these are just normal and do not imply any unusual significance. Further, these may also be individualistic. But what is particularly noteworthy is the special interest, earnestness and reverence expressly and characteristically evident

in their actions for the celebration of the *Jaina* festivals and appreciation of the *Jaina* practices, consistently by most of the kings from Kakustha Varma onwards. Yes, like any other king of his times or the subsequent periods, elsewhere Ravi Varma did make gifts to the *Jinālaya*, at the request of *Jayakīrti*, the *pratihāri*. And with this, generally, ends his action and it was upto the receiver of the grant to do the rest dutifully and honestly as per the terms and conditions governing the grant. And in the event of failure or violation in the implementation level, then the king or the administrator in charge would interfere. This is normally the case anywhere and anytime. Ravi Varma was a very able and strong king who carried his arms as far as the Narmada[58] valley. And there is no indication that in his military exploits he was in any way specially assisted or obliged by Jaina officers or *āchāryas* so much that he was inclined to make extraordinary declaration in the matter of the celebration of the *'Jina Mahimā Aṣṭhanhikā pūjā'*. This becomes more distinct and sharp when considered in the light of the grants made to the other religious shrines of the Buddhista or Saiva. In his 34th regnal year, at the instance of Haridatta, a distinguished and prominent merchant, the king gifted land to *Aparājita Siddhāyatana* and *Bauddha Saṁgha* in Asandi. Again, at the request of Chitrasena Mahākella of the Kekaya family, his feudatory, he made grant of land from Kaṇasa Pukkolli in Nāpitapalli to *(Bauddha) Ārya saṁgha*[60] in Ambudvipa i.e. Haigunda in the Sharāvatī river in Honavar taluka, Uttar Kannada district. It may be recalled here that the princess of this family was the consort[61] of Mrigeśa Varma, the king's father. And in the 35th regnal year, at the request of his trusted Nīlakaṇṭha, the *amātya* for health, he gave lands in charity to the Mahādeva temple got built by the former. Also, it should be noted that for the early Kadambas Mahādeva[62] (Śiva) was probably the family deity, as could be gleaned from the Talagunda pillar inscription in which Siva the god, is picturesquely and beautifully described : *'Jayati Viśvadēva saṁghāta nichitaika murttihssanātanaḥ Sthānurindu raśmivichchhurita dyutimāṭjjaṭā-bhāra maṇḍanaḥ.'* But in none of these occasions, there was anything, special in the statements of the records about the respective religions, but just normal and nowhere there is any special praise with express devotion to the Buddha the great or the god, Mahādeva. The invocatory verse or the expression, is just usual.

2. From the records, it is abudantly evident that the Kadambas right from the childhood, were learning, practising and following their religion, tradition consistently throughout, with earnestness, faith and steadfast devotion. They were highly learned and profound in their study of the Vēdas, Vēdāngas, Dharmaśātras, the Mahākāvyas etc. The Vedic tradition, they followed by inheritance,

was intrinsically enormously rich in profound philosophy of the fundamental universal truths and sublime values that are even today appreciated the world over. By *varna*, they were *brāhmaṇas* and by study, training and practice, *śrotṛiyas* commanding socially high respect and position. Neither, therefore the dearth of values in, nor the poor understanding of their tradition, nor the lack of the prescribed practices and regular study, nor their social rank that made them gradually to look upon the values and principles of the Jaina religion as great.

Considering all these facts, we have to look for their regard and appreciation of the so called atheistic, heterodox religion that is said to be highly critical of the Vedic religion, in the precious basic values of the Jaina religion as such. Again looking into the records, it is apparent that in Halshi, there were *Jaina munis* and *āchāryas* of the *Nirgranthas*, the *Kūrchakas*, the *Śvetapaṭahas* and the *Yāpanīyas*, leading absolutely clean, noble and exemplary spiritual life, exerting profound impact on the society threat. Halshi was the second capital of the Kadamba kings, that was frequently visited by almost every one of them. They made liberal grants to the *Jinālayas* got built by some important persons there. And Kadamba Mrigesa Varma himself, caused to be built an *Arhadāyatana*, there. Thus they could have close access to the Jaina yatis there and probably listen to and discuss with them the religious and philosophical discourses especially on the fundamentals such as the *Syādavāda.*, the principle of *ahimsā* and logical emphasis on the principle of exclusive self-endeavour in the pursuit of the final liberation of the self from the ephemeral worldly ties, etc. Now, as kings entrusted with the responsibilities of protection of the kingdom and maintenance of law and order in the traditional society as well as a frame of mind characterised by tolerance, magnanimity and appreciation of the best in all, and being themselves profound scholars with rich heritage, could with an open mind, understand the non-sectarian Jaina religious values and tenets as great and come out with sincere appreciation, on their own. unbiased and without being influenced and at the same time unswering from the path of their tradition. In turn, all these would strikingly display **the intrinsic greatness of Jainism that was in course of time, realised by people of distinct merit and status.**

There was therefore a warm and friendly relationship between the *Śrotṛiya brāhamaṇas* and the Jaina communities much in opposition to what is generally said in History as stated above in the Kadamba kingdom ; but perhaps elsewhere occasionally intellectually warring with each other in their philosophical disputations. If this interesting facet of our culture in History and rare model provided by the early Kadambas, could be known and practised to day in our society much

afflicted with communal disharmony, is there anythng better for the good of the society?

References and Notes —

1. Gopal, B.R., Corpus of Kadamba inscriptions, Vol.-1, Kadamba Institute of Indian Studies, Sirsi, Uttar kannada, 1985.
2. Ibid, p. 13.
3. Epigraphia Carnatica, Vol.-VII, Part-1, Inscription (Ins.) no. 14
4. Gopal, B.R., Op. Cit., Ins. no. 3, p. 9, no. 8, p. 31
5. Ibid, Ins. no. 3, p. 9
6. Krishnana, K.G., Uttankita Sanskrit Vidyā Aranya Epigraphs, Vol-II, Uttankita Vidyā Aranya Trust, Mysore, Ins no. 15, pp. 39-41, 1989
7. Chidananda Murthy, M., *Kannada Śāsanagala Sāmskṛitika Adhyayana*, University of Mysore, pp. 11, 86 and 159, 1966 (Second Edition)
8. For instance, the famous Commanderas-in-Chief, Bankeya arasa,
   under Amoghavarsha Nripatunga, the Rashtrakuta emperor, Hulla
   under Narsiṁha I, the Hoyasala king, Irugappa
   under Harhara II, the Vijayanagara king etc.
9. Gopal, B.R., Ibid, Ins. no. p. 12
10. Ibid, Ins. no. 11, p. 43
11. Ibid, Ins. no. 23, p. 84
12. Ibid, Ins. no. 25, p. 99-100
13. Ibid, Ins. no. 35, p. 130
14. Ibid, Ins. no. 31, p. 116
15. Ibid, Ins. no. 39, p. 145
16. Ibid, Ins. no. 17, p. 62
17. Ibid, Ins. no. 34, p. 135 and 39, p. 145
19. Ibid, Ins. no. 3, p. 8
20. Ibid, Ins. no. 13, p. 50
21. Ibid, Ins. no. 36, p. 133
22. Ibid, Ins. no. 37, p. 140
23. Ibid, Ins. no. 8, p. 30
24. Ibid, Ins. no. 24, p. 93-94
25. Ibid, Ins. no. 24, p. 94-95
26. Ibid, Ins. no. 18, p. 64
27. Ibid, Ins. no. 29, p. 108
28. Ibid, Ins. no. 29, p. 109
29. Epigraphia Carnatica, op. cit.
30. Ramesh, K.V., Inscriptions of the Western Gangas, Agam Prakashan, Delhi, Ins. no. 25, p. 102, 1984
31. Ibid
32. Ibid

33. In many of the inscriptions, the Gangas are stated to be *'Devagurudvija pūjitāya'*
34. Almost every inscription opens with invocation to Padmanābha, one of the forms of *Viṣnu*
35. Ibid, Ins. no. 10, p. 35
36. Ibid, Ins. no. 10, p. 35
37. Ibid, Ins. no. 19, p. 72
38. Ibid, Ins. no. 27, p. 106
39. Ibid, Ins. no. 159, verse 44, line 136, p. 504
40. Ibid, Ins. no. 3, p. 8
41. Ibid, Ins. no. 21, p. 82
42. Ibid, Ins. no. 6, p. 21 No. 157,p. 488 No. 158, p. 492
43. Ibid, Ins. no. 1, 2, 3, etc. No. 155, p. 481
44. Ibid, Ins. no. 1, 2, 3, 4, etc., etc.
45. Ibid, Ins. no. 155, 12, 14, 17, 35, 36, etc.
46. Ibid, Ins. no. 27, p. 106
47. Ibid, Ins. no. 71, p. 253
48. Ibid, Ins. no. 106, p. 325
49. Ibid, Ins. no. 48, p. 185
50. Ibid, Ins. no. 48, p. 185
51. Ibid, Ins. no. 35, p. 136
52. Ibid, Ins. no. 35, p. 135
53. Ibid, Ins. no. 71, p. 253
54. Krishnana, K.G., Op. Cit.
55. Gopal, B.R., Op. Cit. no. 3, p. 9
56. Ibid, Ins. no. 22, p. 29
57. Ibid, Ins. no. 18, p. 62
58. Ibid, Ins. no. 20, p. 71
59. Ibid, Ins. no. 20, p. 71
60. Ibid, Ins. no. 26, p. 103
61. Ibid, Ins. no. 15, p. 56
62. Ibid, Ins. no. 21, p. 75-77

Received - 14.8.97

ARHAT VACANA
Kundakunda Jñānapītha, Indore

Vol. 12, No. 2, July 2000, 47-54

RIGHTFUL EXPOSITION OF JAINISM IN THE WEST

■ N. L. Jain *

Preliminary Remarks

I have utilised the occasion of presentation of my paper on 'The Concept of Zero in Jaina Texts' at the IVth International Conference of Mathematics, Maebashi, Japan to visit the U.S. and Canada. Many learned Jaina saints, Bhattarakas and scholars have been going to west for many years promoting Jainism as a world religion through their lectures and practices. Many impressive narratives on these activities are published in Jaina papers here and abroad. My interest lay in learning the effect of these tours on western non-Jaina and scholarly world. Accordingly, I visited the religion or religious studies departments of many universities, their libraries and public libraries. I also met many faculty members of these departments. I learnt that there are numerous religious studies departments in universities abroad and also there are large number of students in them. Despite this, there was hardly any knowledge about Jainism and its literature among them. There was virtually no Jaina literature there (except in Austin.TX.). However, there are courses on World's Religions and we could find many text books on this subject written by competent teacher scholars. The students got the knowledge of Jainism through these books only. I read about 25 of these books written between 1889 and 1999 (Two of them are published in India). They describe Jainism in four to twenty four pages including some pictures of architectural importance. I was surprised to read contents about Jainism in them. I could feel that there are many wrong conceptions about it among most of the scholars and therefore students also. If such descriptions are read, the new generation will have negative opinion. (This does not mean that all the books have similar descriptions. Some books have good analytical descriptions like the OUP books of 1996 and 1997.) The reason for this could be that our literature has neither reached the authors nor the publishers. Also, whatever has reached them, it is either indirect or traditional which have led them to present it the way they have done it. Of course, this indicates the lop-sided studies of these scholars. I do not know whether any attempt has been made to remove thses types of conceptions. How, otherwise, the same would have been expressed even in the books of 1999. I also felt from all this that the western world remains immune to these yearly lectures and expositions

* Director-Jaina Kendra, Rewa-486 001 (M.P.)

by about two dozen saints and scholarly people. The appreciation of a system by others has a better promotional effect rather than self-praise. Many books like 'Seven Systems in Indian Philosophy' (Trigunayat) and 'The World Religions Reader' (Rutludge) do not contain even any description about Jainism. Of course, Sikhism and its literature finds place everywhere. **Many authors still state Jainism and Buddhism as reformatory forms of Hinduism and they describe them in a single chapter.** Even many Indian scholars in religious studies departments there do not agree to Jainism as an independent religion. The resident Indian Jainas also do not seem to attempt to remove these incorrect concepts in their books. This is the case even with the books, 'Jainism in North America' (1996) and 'Conquerors of the World' (1998). A similar situation was pointed out by S. K. Jain in U.K. and Europe while he was a visiting fellow there in 1992. Dr. Johrapurkar and Jain also felt the same way much earlier with some suggesions. As a result, there is need for purposeful exposition of Jainism on global basis. Accordingly, we require to collect books, text books, general books and reference books publishing during say, half the century in different important languages and serialise the lopsided or incorrect views in them and try to prepare a multi-faceted book refuting them logically and send it to the authors and publishers so that they may modify their views in the next edition of their books. I shall describe here only some points for proper refutations.

Concepts about Jainism in Many Books of World Religions in the West

The various concepts described in these books may be classified under many categories.

A. General Conception about Jainism

1. Barring few books, most books still point out Jainsism (and Buddhism too) as a reformed form of Hinduism. They have been developed as a revolt against vedic tradition. Jainism is a minority section of Hinduism. (Thrower, Hopfe, Munroe, Kaufman etc.)
2. Jaina sect is a strange one and it is understood difficultly.
3. Jainism does not seem to be as attractive as Buddhism because the Jainas texts are tasteless and difficult. They are not understood by all.
4. According to Toynbee, Jainism is highly self-centered. The self-centeredness is an intellectual and moral error. It creates egoism. That is why, it could not undergo expansion.
5. According to Basham and Scheitzer, Jainism is basically selfish and negative. Its concepts of Arhat and Tirthankara are based on selfishness. They are

not all-welfarist as the concept of Bodhi-Sattva. Despite this, Thrower agrees that the negative tendency has two positive effects : (1) Satisfaction of curiosity about the knowledge of the fine entities and (2) knowledge of external and internal world. These are also important achievements.

6. The Jaina thought and practices are extremist. The concepts of theism, devotionalism, austerities and non-violence and forms of extremism. In fact, the western world feels strange to think atheistic as a form of religion. It questions about this point. This type of system is the most difficult path for the progress of life and beliefs.
7. Prof. Munroe opines that the western religious systems are more organised than the Eastern ones.
8. Prof. Hutchinson opines that the Jaina tenets are unworldly. This is not a religion for the world. However, it requires thinking why it is a living religion even today. The hedomist west gets a shock by Jaina tenets.
9. Some authors have assumed it to be the religion of Salvation and austerities. The naked sainthood is essential for infinite bliss.

B. Origin of Jainism and Biography of Mahavira

Many books published upto 1995 have stated Mahavira as the founder of Jainism. Some authors, however, refer to the tradition of ford makers. Some books have stated Mahavira as the historical founder of Jainism and they keep silence on its earlier history. Some authors have stated that Mahavira gave Jainism a more positive form (Celibacy, penitential retreat etc.) than Parshvanatha and he was renovator, modifier and time-tuner of Parsava system. Despite the opinion of Dr. Rice and Dr. Zinmmer that Jainism existed (though under different name of Nirgrantha) in pre-Aryan (1700-2700 B.C.), these authors seem to be lopsided.

Almost all the books have biography of Mahavira based on Kalpasutra (Foetus transference, marriage, one daughter, divine cloth etc.). Some authors agree to some miracles in his life. However, his biography is not as marvellous as Christ, Mohammad and Buddha. That is why, most western scholars state his biography as unattractive, formal, less reliable and legendary. On the one hand, these authors agree Mahavira to be a staunch austerite, adventurous, deep philosopher and capable organiser (of four fold order), on the other hand, they state him a sage engaged in extremely tormenting and inconscientious harsh austere life.

Though Jainism is said to be naturalistic, the descriptions of his foetus transference etc. are stated to be super-natural. They seem to be more legendary. His period of 540-468 B.C. is said to be better historical than 599-527 B.C.

On this basis, he is given contemporariness with Buddha, Confucious, Lai Tse and Zermia etc. Similarly, he had seven other contemporary heretic scholars.

Many books have a number of mistakes about his life like (1) his place of birth (Patna), (2) age of initiation (28 yrs.), (3) acceptance of only peacock-feather broom (Pichhi) and (4) 70 years of fourth aeon remaining after Mahavira's salvation.

Almost all the authors have stated the harshness of austerities as sermonised by Mahavira. These are extremes. However, his philosophic concepts are fundamental and adventutous. He was a wrestler of spiritualism and escapist from the physical world. His sermons were generally meant for the minority of followers (monks).

C. Jaina Tenets : (1) Ethics and Practices

The Jaina society may be classified in two categories - (1) Majority (laymen) and (2) Minority (monks). The monks practices are generally taken as model. In contrast, the conduct of laymen is practical. Currently, a third category intermediate between the two has also come to exist. Its conduct is nearly monk-like (but it has some freedoms like going abroad etc.). All the laymen have six daily duties. The detail worship is prominent among them. This creates a positive mental state. Fynes, Hopfe and others have described it on the basis of Svetambara system and no Digambara process has been mentioned despite Jaini's book. (1979)

Most of the western scholars presume Jaina tenets as tenets of austerity and salvation. Many authors upto 1995 have postulated them to be following detachmental path where the life and the world are negated and there is an idea of escape from both the corners. It is pessimistic towards life and the world and discourages every type of activities. Its ethics and practices are based on this concept. The Jainas are like Quakers - worshipper of peace and satisfaction. But their five principles of non-violence, non-false speaking, non-stealing, no-sex and non-attachmental possession are indicative of the tendency of the negation. Prof. Hopfe states that the laity generally observes the first three as far as possible but there is laxity in observing the last two. However, the monks and nuns do observe them fully. Secondly, all those five concepts have no boundary. They apply to all the living creatures. Prof. Schweitzer has said that these concepts are not the basic concepts of the Jainas. They are originated from their detachmental ideology which promotes inactivity in life. The Jainas talk about compassion etc. so that they may become detached from the world. What is the purpose there for others for them? They accept the passionate in activity and negate the sympathetic assistance for others. It is due to this that the Jaina ethics/practices promote individualism and egoism.

(Acarya Rajnisha had also similar thoughts.) According to Basham also, the Jaina ethics and practices are basically negative and selfish. They are individualistic rather than socialistic. That is why, the life style of Jainas is controlled by harsh rules. This is the secret of longevity. Despite this the Jaina tenets do not offer permanent happiness without monkhood. This is in contrast with other religions.

All the above five principles of the Jainas are the same for both - the laity and monks. However, their total observance is there in the monkhood only. (Many scholars discussed the effect of the principles of non-violence in terms of the life-style of the Jainas in the form of vegetarianism, environmental preservation and non-involvement in violence-involving professions. It has also influenced others systems too). Despite this, Prof. Noss opines that the Jaina ethics detaches us from evil actions and promotes the overall happiness. Not only this, the harsh austeritic life has also an indirect effect of moving towards welfare of all and the self. Despite the ethical code of the Jainas being individualistic, it accepts the self as the maker of own destiny. It is not, therefore, incarnationist. Its torch bearers are not bestowers of fortunes. But their remembrance serves a source of direction and encouragement. That is why, the temples, worship and prayers have no value for the Jainas. Despite the fact that their fundamentals are easily comprehensible, their elaboration and philosophy is not simple to be easily understood.

(2) Ontology (Metaphysics)

The ontology of Jainas is dualist (living and non-living) and pluralist (six physical realitites, nine spiritual categories, seven spiritual reals etc.). The scholars have opined that it is a realistic ontology. It has an object of acquiring salvation by breaking away the combination of the living and non-living (karmas). The relationship of these entities through Karmas is very interesting. Their non-living world is atomistic. Generally, Jainism is not deterministic because of its realistic nature. However, it is naturalistic and athestic where there is no positivism. It seems that man was initially athestic. That is why Cārvakism is said to the oldest (Thrower). The Jainas do not admit **actorship** of God but they admit capacity of Godhood in every living being and hence, they are poly-theists. It is due to this that they could not be popular like the Carvakas.

The Jainas are not purely devotionalists like the Muslims or Christians. They admit the triad of right knowledge, faith and conduct. It is because of this multi-dimentionsim that they have been surviving since hoary past. The western world is not ready even to accept any atheist system as a religion. (It is not even prepared to accept the anti-theist logic).

The Jainas are Karmists and Aureolists. (This is the result of their psychological

understanding.) These principles are also infested with pessimism. But these are the specific principles of the Jainas which serve as a spiritual glue for the living-non-living combination. Rice has opined that Jaina ontology is totally pessimistic. It starts from hylozoism and goes upto Godhood for all. He admits the tetrad of love, compassion, happiness and peace of the Buddhists as positive (but does not even mention the tetrad of friendship, compassion, happiness and naturality of the Jainas.) They even call the positive principles of the Jainas as leftist.

The concept of cyclically devolving and envolving world also makes a man a bit under trouble. Their logistics and epistemology is fine but complex. Their theory of seven-fold predications also confuses the western mind. However, it is not consistent with determinism. (Mention of stand pointism is rare).

D. Jainism and Women

There are three times as many nuns (Sadhvis) as male monks (Fynes). However, their level is taken as inferior to monks. In Svetambara tradition, women may have salvation while there is no salvation for them in Digambara tradition. (However, it is the nuns who have preserved the traditional Jaina practices and rituals.)

E. Jaina Religion : Social Religion

It is agreed, in general, that Mahavira was an excellent reformer and awakener of contemporary society. However, most authors do not seem to admit as a social religion because the general tendencies of society are heterodox with their principles. Moreover, the individualistic principles do not apply to society (like the macro world theories to micro-world). According to Schweitzer, there are no principles useful for society in Jainism. However, if there are any, they have come from Hindu Religion.

F. Jains Literature

Many authors have mentioned the Digambara/Svetambara literature. However, Basham has clearly mentioned it to be tasteless and scholarship-showing.

G. Erronsous Statements

1. Almost all authors admit origination of the two main schisms in the first century C.E. They also mention about them. The non-idolator Sthankavasi sect is also sometimes mentioned. But Terapantha of Svetambara and Terapantha of Digambaras generally do not find mention.
2. The Jainas are generally found in every part of India. However, most authors have pointed Digambaras to exist in south and the Svetambara in north.

(It is probable that the concept of theirs might be with historical perspectives. They have, generally forgotten central, eastern and western India (Mumbai, Ahmedabad, Delhi, Jabalpur, Calcutta, Dimapur etc.)

3. The Svetambara have been stated to be more liberal and popular (on the basis of some of their tenets) than the Digambara (stated as conservative).
4. It is only women who undertake religious fastings. Also, it is only the males who participate in bidding.
5. Generally, there is no mention of holy places in terms of salvation and miraculous places. However, Pavapur, Sammedshikhar (and Kailash also) find rare mention. Of course, Mount Abu and Shatrunjaya (Sharvanabelgola also) find mention due to their art/architectural valus.
6. Dr. Kaufman has stated that the Jaina images are different from and unattractive than Buddha images. These do not express the compassion and softness on their faces. When they are adored and ornamented, they look fierce.
7. Almost all authors have expressed holy death process as 'self starvation'.
8. The Jainas have abandoned the theory of nakedness for salvation and many Digambaras have adopted cloths while monks.
9. The Jainas do not have harsh spiritual practices like the Hindus. However, the practices of hair plucking, harsh postures, meditation under heat, fastings (Mahavira had approx. 4000 fasting days out of 4380 days in 12 years) and the like are extremes and non-conscientious activities. Rev. Murray opines that alms-begging and tasteless foods are also such activities.

CONCLUSION

It will be clear from the above as to what type of lop-sided and denatured concepts about Jainism are there in the Western academic world even at the end of 20th centrury. About 70% basic tenets of Judaims and Christianity are negative in charecter but they are not taken in that way. However, the Jaina tenets are called negative and secondary. Similarly, it is not proper to call Jainism as a religion of monks only on the basis of some earlier texts. Many of its texts contain liaty practices for worldly welfare. The male and female liaty are the important components of four-fold order of the Jainas and it is on them that the institution of monks and the order has become so much long-lived. The Jainas are also credited for their non-violent professions (like banking, textiles, transport, computers, jewellery etc.) and rigid spiritual practices.

It is therefore, necessary to prepare a book through the serious Jaina scholars to scholarly refute the above mentioned (and many others involving

philosophical principles also) opinions. The institutions involved in promotion of Jainism abroad should come forward in this project. To prepare such a monograph, one will have to compile various points mentioned in western books published in the last fifty years (as suggested earlier) and analyse them to present the currect picture of Jainism. One will have to abandon the status quoist concepts and to elaborate the dynamism, positivity and enormous capacity of happiness promotion of Jainism. It is hoped that some national and international Jaina Institutions will come forward leading to the rightful exposition of Jainism on global arena. Some of the suggestions of S.K. Jain may also be taken care of by them.

REFERENCE BOOKS

1. World's Religions, Ed. - Stewart Sunders et.al., G.K. Hall & Co., Boston M,A. - 02412.
2. Religions Encyclopedia - 2, Sheff & Hazing, 1889.
3. Paths of Faith, John Hutchinson, MeGraw Hill, 1969.
4. The Wonder That Was India, A.L. Basham, MLBD, 1960.
5. Man's Religions, John B. Noss, McMillan, London, 1970
6. History of Indian Philosophy, Frauwalnar, MLBD, 1973.
7. Religions in For Dimensions, Walter Kanfman, Visual Books, NY, 1974.
8. Ten Religions of the East, Edward Rice, Four Whites, NY, 1978.
9. Alternative Traditions, James Thrower, Martin Pub., Hegue, 1980.
10. A Historians Approach to Religions, A Toynbee, OUP, 1956.
11. Great Religions of India, Br. Alexander Duff, 1980.
12. Fredman Handbook of World Religions, Fredman, 1982.
13. World Religions ; Eastern Religions, Fact on File Inc., 1983.
14. Indian Thought and Its Development, A. Schweitzer, Boston, 1957.
15. The Elaide Guide to World Religions, Harper Collins, NY, 1991.
16. World Religions, Walter Mathews, St. Paul, 1991.
17. Religions of the World, Lewis M. Hopfe, Maxwell Merilla, McMillan, NY, 1994.
18. World Religions : Eastern Traditions, OUP, 1996.
19. Elements of World's Religions, Liz Flower, Element Book, Shaftesbury, U.K., 1997.
20. Oxford Dictionary of Religions, John Becker, OUP, 1997.
21. Illustrated Ency. of World Religions, Element Books, Shaftesbury, 1997.
22. A History of World's Religions, David S. Noss, Prentice Hall, N.J., 1999.
23. World Religions, J. Flower, Sussex Ac. Press, Brighton, U.K.
24. The World Religions Reader, Rutludge, 1998.
25. Jainism in America, SAB Kumar, Missisauga, Canada, 1996.
26. Conquerers of the World : Jainism, Natubhai Shah, Sussex, UK, 1998.
27. Worlds Religions : An Introduction, Charles A. Munroe, Pronethus, 1995.

Received - 4.11.99

ARHAT VACANA
Kundakunda Jnanapitha, Indore

Vol. 12, No. - 3, July 2000, 55 - 63

JAINISTIC & SCIENTIFIC ANALYSIS OF EXTRASENSORY PERCEPTIONS OF SHRI ASHOK DUTT

■ **Muni Nandighoshvijay** *

Someone spoke, Shri Ashok Kumar saw a mass of variously gliftering colourful energy particles. Besides/Moreover, he saw various kinds of coloured energy particles emerging from living and nonliving objects. Also, he sometimes saw living objects absorbing coloured energy particles from the surrounding atmosphere. In his article **'The Secrets of The Alphabet and The Incontation - Sound'** in the October - December, 1992 issue of the Farbus Quarterly, he has expressed some of his experiences about sound. I was very much delighted to read the article entitled 'The secrets of the Alphabhet and the Incontation - Sound'. His experiences are much in keeping with the Jain view of reality. We shall analyse them later on. Let us first get acquinted with the belief of modern scientists regarding sound.

Generally, scientists believe that both sound and light are in the form of waves. Of course some phenomena of light and especially the phenomenon of photo - electric - effect, can be explained only by accepting that light is in the form of particles. Generally, scientists call these particles photons. They were first called 'Quanta' by Einstein and the science that deals with them, is called quantum mechanics.

Light[1] is of two types - 1. Visible light and 2. Invisible light. Invisible light (i.e. some electromagnetic waves) are also of two types - (1) that which has less/low frequency and greater wave length than visible light and which is known as infra red waves and (2) that which has greater/high frequency and small wave - length than visible light and which is known as ultra violet rays.[2]

The classification of sound is similar to that of light. Generally, the human ear can hear sounds with a frequency varying from 20 to 20,000. Sound is of two types : (1) audible sound with a frequency varying from 20 to 20,000 and (2) inaudible sound which is also of two types - (1) Sound with a less/low frequency than 20 is known as infrasonic waves, the elephant can hear infra sonic waves and (2) sound with a greater/higher frequency than 20,000 is called ultra sonic sound. With the help of sound waves of this type, the urine stone is reduced to powder and removed without a surgical operation. In short, the scientists of today believe that sound is entirely in the form of waves.

* **Shwetambara Jain Muni, C/o. Dr. Anil Kumar Jain, B - 26, Surya Narayan Society, Opp. Visat Petrol Pump, Ahmedabad - 380 005**

They believe that electromagnetic waves behave like waves in certain circumstances and in other circumstances they behave like particles. Thus modern science and scientists accept the dual nature of light.

On the other hand, the experiences or extrasensory perceptions of Shri Ashok Kumar Dutt prove that light, the electromagnetic field (Which is called aura of objects), mind, thoughts and sound - all these are in the form of matter i.e. pudgal or the masses of subtle particles i.e. the most micro atoms / particles and this fully supports the jaina philosophical view.

According to Jaina philosophy, there are only six kinds of fundamental substances in the whole universe. They are - 1. Soul. 2. Matter, 3. Space, 4. Time, 5. Dharma (The medium for motion) and 6. Adharma (The medium for rest). Some Jaina philosophers regard time as a substance and some do not.[3] Of these all substances, five substances otherthan matter are formless. Only the matter (pudgal) has a form.[4] In combination with element matter, the element soul seems to have a form. Jaina philosophers mention that the matter has the characterstics namely colour, smell, taste and touch.[5] The subtlest part or atom of an element matter, which by any instrument could never be divided in the past, can never be divided in the present and is never going to be possible to be divided in the future, is called an atom. Though, in modern physics, the subtlest indivisible part of a substance is called an atom (paramāṇu), it can be divided into sub-atomic particles namely electrons, protons, neutrons, quarks etc. It is therefore, not proper to call it a real paramāṇu (atom).

An atom (paramāṇu) has a coulour, a smell, a taste and two touches.[6]It means that it has a form. But it is so subtle that it cannot be seen with the naked eyes, nor can it be seen with any instrument such as an ultra modern electro-microscope. It can be seen with the eyes or an instrument only after infinite atoms have gathered up in a mass.

Grouping of infinite atoms have been classified by Jaina philosophers into eight types. Their names and uses are as under :

1. **The audārika type of grouping i.e. varganā** - Every unit of this type of Varganā (grouping)[7] has infinite atoms. Bodies of all living beings in the whole visible universe are made of it, except the bodies of hellish beings and celestial beings. According to Jainism, earth, water, fire and wind are also living beings and therefore, their bodies are also made up of units of this type of varganā.

2. **The Vaikriya Varganā** - Every unit of this type of Varganā has also infinite atoms (paramāṇus). But unit of this type of Varganā has many more numbers

of atoms than the number of atoms in the former type of Varganā. Similarly, every unit of later type of Varganā has an increasingly larger number of paramāṇus (atoms), which are more and more subtle in form. Bodies of Gods and Goddesses i.e. divine beings and hellish beings are made of this type of paramāṇu-units (Varganā). Even human beings sometimes make another body of this type of paramāṇu-units (Varganā).

3. **The Āhāraka Varganā** - Jaina monks who have attained a specific level of deep learning, use the paramāṇu-units of this type of grouping (Varganā) to make a crystaline body of the size of a close-fisted hand.

4. **The Taijas Varganā** - With the paramāṇu units of this Varganā (grouping), a subtle called taijas (vital) body is formed by every living being. Food is digested with its help.

5. **The Bhāṣā Varganā** - All living beings varying from those with two senses to those with five senses, celestial, human and hellish beings absorb the paramāṇu-units of this Varganā and transform them into expressed or unexpressed sounds and release them in the atmosphere.

6. **The Swāsocchwāsanā Varganā** - Every living being inhales and exhales with the paramāṇu-units of this varaganā.

7. **The Mano Varganā** - The minds of all gross five-sensed living beings (celestial, human, hellish and animals, birds etc.) are made of this type of paramāṇu-units (Varganā). Moreover, they are used in various processes of thinking.

8. **The Kārmaṇa Varganā** - The paramāṇu-units of this type of Varganā get transformed as auspicious or inauspicious karma i.e. kārman particles and stick to the soul. They make a special type of subtle body named the Kārmaṇa body.

In both of his articles, Shri Ashok Kumar Dutt shows that the groups of coloured energy particles are chiefly of the three colours - red, yellow and blue. But in the description of the element pudgala i.e. matter, Jaina philosophers show that they are of five colours - white, red, yellow, blue and black. In the subject of (art of) drawing, there are only three colours, besides the black and the white.[8] The rest of the colours are made by mixing these colours. In the printing of coloured photos, red, yellow, blue and black colours are used.

There are two types of smell - (1) good smell and (2) bad smell.

There are five types of taste - (1) Bitter, (2) Pungent, (3) Astringent, (4) Sour, (5) Sweet. The saltish taste is not taken into account here, but the saltish taste is also sometimes counted in a taste.[9]

There are eight types of touch - (1) heavy, (2) light, (3) soft, (4) hard, (5) cold, (6) hot, (7) smooth & (8) rough.[10]

A single solitary atom has two types of touch - (1) cold or hot and (2) smooth or rough. Some paramāṇu - units made of infinite atoms have sometimes four touches. Some have all the eight touches. The first four of the eight types of Varganās shown above have all the eight types of touch. The last four Varganās of the eight types of Varganās shown above, have four types of touch.

Having got this back ground information of the pudgala (matter), we shall now analyse the experiences or extra sensory perception of Shri Dutt.

Chiefly blue particles seem to emerge from the sound of a conch - shell. It is customary to make sound of a conch - shell at the time of evening prayer in Hindu temples. It is said that the sound of a conch - shell removes turbidity / impurity and inauspiciousness of atmosphere and this is proved by Shri Dutt's experience mentioned above. Similarly, blue particles emerge from the sound of temple bell which is of the shape of a pyramid. Greater than one - third of the height of pyramids, domed temples and buildings of the shape of a pyramid, store blue energy particles. They have probably the highest energy and that is why fruits, flowers kept in the pyramid at one - third of its height just under its apex remain fresh for a long time and then they dehydrate but do not decay. A lot of research work has been done on this in the west and a number of books have also been written and published.[11] Shri Dutt's extrasensory perception of pyramid substantiates this statement.

Defining the word pudgala **(पुद्गल)** (i.e. matter), Jaina philosophers say that a pudgala is something in which the processes of fusion and fission are constantly going on. **पूरयति गलयति इति पुद्गलः।**[12] Shri Dutt's extrasensory perceptions show that red, yellow and blue particles constantly emerge from all living and non - living objects in the whole universe. It means that with a special attitude or power of his eyes he has seen the process of fission taking place in non - living paudgalic (material) objects, the process of disintegration of atoms of an object. He saw the process of fission with his eyes because it is faster than the process of fusion in the non - living objects. But when the same objects are placed in a pyramid, a refrigerator or a special type of atmosphere, the process of fission becomes slower and the process of fusion which absorbs blue energy particles, becomes faster. The process of fusion and fission are constantly going on in the human body too[13] and it is clearly experienced by Shri Ashok Kumar Dutt. This perfectly substantiates the doctrines laid down by Jaina philosophers.

According to Shri Dutt, the red particles are the least energetic. Modern science also accepts this. When a sun ray passes through a prism, it is divided into seven colours and the colour spectrum, that is formed, the red rays - particles have least frequency and the violet rays/particles have the highest frequency. And according to the law of physics, the higher the frequency of rays/particles, the higher the energy of rays/particles. Rays with a low frequency than the frequency of red light i.e. electromagnetic waves having low frequency cannot be grasped by our eyes. They are called infra-red rays. Similarly, rays with a higher frequency than the frequency of violet rays or electromagnetic waves are called ultraviolet rays and they can also be not grasped by our eyes.

Shri Dutt says that between non-living things and living things, there is an intermediate state of things. The non-living body after the death ; flowers and leaves fallen from trees and plants belong to this state. They first emit blue, then yellow and then red particles and then they dacay.

Regarding food of monks and nuns of the Svetambar idolatrous sect, there is a rule that they can accept ripe fruits etc. after 48 minutes after they have been cut and juice has been extracted from them. Shri Dutt's experiences described above, reveal the secret of this rule. Generally, we believe that ripe fruits become lifeless soon after they have been cut. But as long as all the blue particles have not been emitted, they are probably alive and during emission of yellow particles, they are lifeless but they do not contain bacteria. But baecteria have already entered them when red particles are emitted. That is why fruits are fit to be accepted by monks and nuns only when they are in the intermediate state between the two states.

Moreover, in cold places also, blue particles are more quantitative. The refrigerator is the best illustration of this. That is why fruits etc. in a refrigerator or in such places, remain fresh for a long time. They can remain alive there. In heat all fruits etc. decay and are soiled soon because in heat they quickly emit energy-particles. There are records of instances which show that dead bodies of human beings and animals buried under snow have remained fresh for thousands of years. That also substantiates this fact.

Shri Dutt says from his experience that in nature, i.e. in places of natural beauty such as green vegetation, ponds, wells, river-banks etc., there are abundant blue particles near the bottom of the earth. Trees, palnts etc. emits blue particles in the morning hours. They emit yellow and blue particles during the day time and at night they emit red particles and absorbs blue particles. They grasp red particles in the morning. Students of science generally know that during

the day time plants, trees etc. absorb carbon-dioxide and emit oxygen. At night plants, trees etc. absorb oxygen and emit carbon-dioxide. This skows that oxygen has blue molecules and carbon-dioxide has red molecules. And it is a scientifically proved fact that oxygen has energy for vital functions and that is why whoever controls breath or takes deep breaths i.e. Prāṇāyāma, enjoys good health.

Of course, this is an inference based on the extrasensory perceptions of Shri Dutt and it is in keeping with the contention of Jaina philosophy and it is probably nearest to truth. All cannot have such experiences because this is a gift of nature. We should not, therefore, underestimate it.

Shri Dutt proposes to study the body from two view-points - 1. the subtle body and 2. the kāraṇa body. This will make it easy to understand the facts of colours.

According to Jaina scriptures, the body is of five types - 1. the audarika body, 2. the vaikriya body, 3. the āhāraka body, 4. the taijasa body and 5. the karmana body. All these five types of body have been mentioned earlier in the description of the forms of Varganās i.e. grouping of paramāṇu-units. Since they have a special relevance here, they are mentioned here again. Every living being has at least three bodies. In distinct circumstances, distinguished man have four bodies but never has five bodies at the same time. Generally, the living beings of physical world, namely, earth, fire, water, wind, plants etc. who have only one sense of touch and very small insects, i.e. micro organisms and other creatures which are classified by the Jaina biology into the two-sensed, three-sensed and four-sensed living beings, acquatic living beings such as fishes etc. beasts such as the cow, the horse, the elephant etc., the snake, the squirrel etc. and birds such as the sparrow, the crow, the parrot etc. which are called five-sensed have only three bodies each ; the audarika body, the taijas body and the karmana body. To their vaikriya body, they can give any form or shape, small or big. In the sense of modern science and scientists, it is called the desire body. Of all the living beings in the whole universe, only man can make a vaikriya body i.e. desire body, if he performs certain special type of knowledge, besides the audarika body of bones, flesh and skin, that is visible to naked eyes. But never can be simultaniously make both the types of body - the vaikriya body and the āhārika body.[14]

Of the five types of body, the types of body intended to be described here are the taijas body and the karmana body. All living beings in the whole universe certainly have these two types of body. Of course, the living being who having emancipated from the bondage of all the karmic particles has attained

salvation and has got liberation from the eight types of karma, has none of the five bodies and that is why he is called unembodied, This taijas-kārmana body is called the vital body. The taijas body, which Shri Dutt calls the sbtle body, digests food and makes constituents of the gross body such as blood, flesh, fat, bones, marrow etc. The kārmaṇa body which Shri Dutt calls kārmaṇa body, determines various forms and structures of gross and subtle body. Both these types of body are very important.

In paintings of Gods, an aura is painted behind their heads. It is a symbol of their divine quality. Really speaking, it is an effect of purity of their subtle/taijasa body. Other living beings and human beings also have such a bright round shape around their bodies, which is called an aura. Really speaking, this aura is a bio-electro-magnetic field. As every magnet has its magnetic field. So every living being has his field or effect. The aura of a human being depends on the purity of his taijas/subtle body and that again depends on the auspiciousness of material particles of kārmaṇa Varganā absorbed by the kārmaṇa body and their colour, smell, taste and touch. The absorption of auspicious and inauspicious material particles depend upon auspicious and inauspicious thoughts concieved by the mind. As a result, the intensity and purity/impurity of the aura depends upon the thoughts created in the mind. Shri Dutt calls the aura, the armour of energy. The mind which is now-a-days called the sixth-sense, is made of constituent units of subtle particles.

Though Shri Dutt is not a Jaina, he seems to follow the contentions of Jaina philosophy. On one hand, this fact justifies the Jaina contentions and on the other hand, his extrasensary perceptions being true, convince the Jain community. Of course an extensive analysis as well as classification and research of his experiences, seems to be necessary and his experiences and similar experiences of others may open up a new field of research.

One of the extrasensary perceptions wonderfully reflects the Jain philosophy of karma. He says that energy particles are encompassed in the armour of energy i.e. bio-electro-magnetic field. The subtle body absorbed them as food. It is necessary to analyse this statement from gross as well as subtle viewpoints.

From the gross viewpoint, Jaina philosophers classify food into four types - 1. kavala āhāra, 2. praksepa āhāra, 3. loma āhāra and 4. oja āhāra.

1. Eating with mouth the food cooked in the form of morsels is called kavala āhāra. 2. Giving energising substances or medicines directly into blood through injections or holes made in skin, when it is not possible to take food through the mouth, is called praksepa āhāra. 3. Absorbing subtle particles of food and water from the atmosphere through short and small hairs on the

body, is called loma āhāra. 4. Sperm of father and blood of mother taken by a child in the womb as food is called oja āhāra.

Speaking from a subtle point of view, according to the Jaina theory of karma, the soul grasps karma particles i.e. paramāṇu-units of karmana Vargaṇā from the space points which are non-distant from the space-points in which he lives.[15] Then the soul incorporates them in his karmaṇa body. Later on the soul somehow becomes inseparable from them.

Does the extrasensary perception of Shri Dutt suggest loma āhāra? Or does it suggest absorbtion of paramāṇu-units of karmana Vargaṇā described from a subtle viewpoint? This cannot be unnderstood. Perhaps he did not think of making such a line of demarcation because it seems that it is impossible for him to make such analysis or classification of his experience without complete knowledge of the Jaina theory of karma.

Regarding the armour of energy i.e. an aura, he says that the greater circumference of the aura, the greater its capacity for grasping the particles of energy and preventing them from being wasted or going away. It can perhaps be said that as the living beings develop spiritually, their energy-armour i.e. aura becomes larger, purer and clearer. That is why the aura of divine beings, Gods and Goddesses and of Tirthankara (paramatma devadhideva) is pure, clear and visible to the eyes. Non-living objects can also have such an aura. But it is not like the aura of living beings, which is stable and develops according to spiritual progress. Day by day, it becomes weaker and weaker and loses its lusture. When Deva have six months of their life-span left, their aura begins to lose its lusture, their flower-garlands begin to wither and their body becomes dirty. But these gods who are ekavatari, i.e. who are to take the next birth as a human being and are then to attain the final liberation, are exempted from this rule. Their aura becomes more and more lustrous and their flower-garlands do not wither. The intensity of the energy-armour i.e. aura or bio-electro-magnetic field, depends upon the capacity of mind and will power. As the will power of a living being becomes intense, his circle of aura becomes large and intense. Man should, therefore, make his capacity of mind/will-power intense by means of constant auspicious thoughts, prayers and worship of his God.

In order to avoid unnecessary repetition, I have taken the analysis of Shri Ashok Kumar Dutt's extrasensary perceptions of sound and alphabet, along with the analysis of the article entitled 'The Secrets of Sanskrit Alphabet and Sound of Incantation.'

Contents -

1. Light is always in the form of electro-magnetic waves therefore, here 'Light' means electro-magnetic waves.
2. This is a general division or classification. More sub-divisions are described in the books on physics.
3. अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला : ॥ 9 ॥ द्रव्याणि जीवाश्च ॥ 2 ॥ कालाश्चेत्येके ॥ 39 ॥
   ajivakaya dharmadharmakās pudgalah ॥ 1 ॥ dravyani jīvāsca ॥ 2 ॥ Kalascetyeke ॥ 39 ॥ (tattvārthasūtra, Adhyāya-5)
4. रूपिण: पुद्गला: ॥ 5 ॥ rūpinah pudgalah ॥ 5 ॥ (Tattvārthasūtra, Adhyāya-5)
5. स्पर्शरसगन्ध वर्णवन्त: पुद्गला: ॥ 28 ॥ Sparsa rasagandha varnavantah pudgalāh ॥ 28 ॥ (Tattvārthasūtra, Adhyāya-5)
6. Commentary on the aphorism - स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त: पुद्गला: ॥ 28 ॥
   Sparsa-rasa-gandha-varnavantah pudgalah ॥ 28 ॥ (Tattvārthasūtra, Adhyāya-5)
7. Varganā is a word of Jain terminology. It is used for a unit of atoms/paramānus.
8. Red, Yellow and Blue are the three original colours. All other colours are made by mixtures.
9. भावओ णं राइभोअणे तित्ते वा, कडुए वा, कसाये वा, अंविले वा, महुरे वा, लवणे वा।
   bhāvao nam sāibhoane titte vā, kadue vā, kasaye vā, ambile vā, mahure vā lavane vā. (Pakhkhi Sūtra Atapaka-6)
10. ..... वण्ण, किण्ह - नील - लोहिअ - हलिद्द - सिआ ॥ 40 ॥
    सुरहिदुरही रसा पण तित्त कडु कसाय अंबिला महुरा।
    फासा गुरु लहु मिउ खर - सी - उण्ह - सिणिद्ध - रुक्खट्ठा ॥ 41 ॥
    ..... vanna, kinha - nīla - lohia - halidda - siā.
    surahidurahī rasā pana tittakadu - kasāya - ambilā - mahurā.
    fāsā guru - lahu - miu - khara - sī - unha - siniddha - rukkhatthā.
    (First Karmagrantha, Gāthā No. 40 & 41)
11. The Pyramid Power by Max Toth & Gerge Nielsen.
12. Commentary on the aphorism अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला: ajivakāyā dharmādharmākāsapudgalāh.॥ 1 ॥ (Tatvārtha sūtra, Adhyāya-5)
13. See, 'Science Discovers Eternal Wisdom', by Munishri Amarendravijay Mahārāj.
14. A detailed description of both these types of body is found in Siddhasena Gani's commentary on the Tattvārtha sūtra, Adhyāy-2, Sutra-37 to 49.
15. एगपएसोगाढं निअसधयएसओ गहेइ जीओ ॥ 79 ॥
    egapaesogādham niasavvapaesao gahei jio.
    (Fifth Karmagrantha, Gāthā No. 79)

Received - 4.3.97

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी

की प्रेरणा से मनाये जा रहे

भगवान ऋषभदेव अन्तर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव वर्ष

में

तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ

द्वारा आयोजित

अखिल भारतीय निबंध प्रतियोगिता

विषय : भगवान ऋषभदेव का भारतीय संस्कृति को अवदान

शब्द सीमा : 1500 शब्द ☐ अंतिम तिथि : 31 अगस्त 2000

वांछित प्रतियाँ : दो प्रतियां टंकित या सुवाच्य अक्षरों में

— पुरस्कार —

प्रथम - रु. 2000/- ☐ द्वितीय - रु. 1000/- ☐ तृतीय - रु. 500/-

— सांत्वना पुरस्कार —

समस्त प्रतियोगियों को सांत्वना पुरस्कार साहित्य के रूप में दिया जायेगा।
सभी प्रतिभागियों को प्रमाण पत्र भी दिये जायेंगे।

— पात्रता —

म.प्र. के विद्यालय/महाविद्यालय/विश्वविद्यालय का छात्र/छात्रा होना आवश्यक। प्रविष्टि के साथ छात्र/छात्रा होने का अपने विद्यालय के प्राचार्य/प्रधानाध्यपक का प्रमाण - पत्र अवश्य भेजें।

— प्रविष्टि भेजने का पता —

डॉ. (श्रीमती) वन्दना जैन, संयोजक - मध्यप्रदेश प्रान्त
5 - ए, प्रोफेसर्स कालोनी, **आगर मालवा** - 465 441 जिला शाजापुर (म.प्र.)

नोट : विभिन्न प्रान्तों से चयनित निबन्धों में से केन्द्रीय स्तर पर प्रथम, द्वितीय, तृतीय का चयन किया जायेगा एवं उन्हें फरवरी 2001 में केन्द्रीय स्तर पर पुरस्कृत किया जायेगा। केन्द्रीय संयोजक डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन एवं श्री जयसेन जैन (इन्दौर) हैं। म.प्र. के बाहर के प्रतिभागी कृपया निम्न पते पर सम्पर्क करें।

डॉ. प्रकाशचन्द जैन
91/1, गली नं.3,
तिलकनगर,
इन्दौर - 452 001

या

श्री जयसेन जैन
201, अमित अपार्टमेन्ट,
1/1 पारसी मोहल्ला, छावनी,
इन्दौर - 452 001

वर्ष - 12, अंक - 3, जुलाई 2000, 65 - 66

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जैनागम में प्राणायाम एवं ध्यान

■ पारसमल अग्रवाल *

नया स्तम्भ - आगम का प्रकाश : जीवन का विकास

अर्हत् वचन की लोकप्रियता एवं समसामयिक उपयोगिता में अभिवृद्धि एवं इसके पाठकों को जिनागम के गूढ़ रहस्यों से सहज परिचित कराने हेतु हम एक स्तम्भ **'आगम का प्रकाश - जीवन का विकास'** प्रारम्भ कर रहे हैं।

इस स्तम्भ के अन्तर्गत हम ऐसे लघु शोध आलेख या टिप्पणी प्रकाशित करेंगे जिसमें निम्नांकित विशेषताएँ हों -

1. जैनागम का कोई मूल उद्धरण अवश्य हो।
2. हमारे जीवन में सीधा उपयोगी हो। अर्हत् वचन के पाठक इस स्थल पर अपने जीवन के विकास / सुख / शांति के लिये कुछ प्राप्त करने के उद्देश्य से इस अंक की उत्सुक्ता से प्रतीक्षा करें व उन्हें अवश्य इससे कुछ शांति मिले।
3. जैन दर्शन के कोई कम प्रचारित या दबे हुए पक्ष की जीवन में महत्ता उद्घाटित होती हो।
4. नवीन वैज्ञानिक अनुसंधानों के परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण हो।

उपर्युक्त 4 बिन्दुओं में प्रथम दो आवश्यक हैं व शेष 2 आवश्यक तो नहीं किन्तु हो जाये तो अच्छा है।

— सम्पादक

आज इस वैज्ञानिक युग में व पश्चिम जगत में ध्यान (Meditation) एवं प्राणायाम (Breathing Excercise) की शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के आधार पर महत्ता बढ़ती जा रही है। इन विषयों पर दर्जनों पुस्तकें अमेरिका के एक सामान्य से बुक स्टोर पर भी दिखाई देती हैं। अधिकांश जीवनोपयोगी पत्रिकाओं का कोई भी अंक इन विषयों के किसी बिन्दु को छुए बिना पूर्ण नहीं होता है। दो प्रश्न यहाँ उपस्थित होते हैं - आत्मप्रधान जैन दर्शन के आगम इनके बारे में क्या कहते हैं? जैनागम के अनुसार क्या हमारे जीवन में इनकी उपयोगिता है? इस लेख में हम प्राणायाम के सन्दर्भ मे इन प्रश्नों के उत्तर देखेंगे।

कई व्यक्ति ऐसा मानते हैं कि जैनाचार्यों ने प्राणायाम का समर्थन नहीं किया है। उदाहरण के लिये आदरणीय पं. बलभद्रजी की प्रसिद्ध पुस्तक 'जैन धर्म का सरल परिचय' से ऐसा ही लगेगा कि जैनाचार्यों ने प्राणायाम का विरोध किया है।[1] निम्नांकित श्लोक व कथन प्राणायाम का विरोध दर्शाने के लिये सामान्यतया प्रयुक्त होते हैं -

''प्राणाद्यामेन विक्षिप्तं मनः स्वास्थ्यं न विन्दति'' [2]

अनुवाद : प्राणायाम से विक्षिप्त मन स्वास्थ्य को नहीं प्राप्त होता है।

''प्राणस्थायमने पीड़ा तस्यां स्यादार्त्तसंभवः।
तेन प्रच्याव्यते नूनं ज्ञाततत्त्वोऽपि लक्ष्यतः॥'' [3]

अनुवाद : प्राणायाम में प्राण (वायु) के रोकने (आयमन) से पीड़ा होती है और इसमें आर्त्तध्यान संभावित है और उस आर्त्तध्यान से तत्वज्ञानी भी अपने लक्ष्य (समाधिस्वरूप शुद्ध भाव) से छुड़ाया जाता है।

अनेकान्त दर्शन की मान्यता को यदि हम एक - दो श्लोकों से ही समझना चाहें

* Chemical Physics Group, Department of Chemistry, Okalahoma State University, STILLWATER OK 74078 U.S.A.

तो कोई यह भी श्लोक बता सकता है कि जैन दर्शन में तो दया - दान को भी शुभबंध कहा है व इनको छुड़ाने की प्रेरणा दी है। किन्तु हम यह भी जानते हैं कि ऐसे कई श्लोक हमें देखने को मिलेंगे जहाँ साधक को प्रारम्भिक भूमिका में दया - दान के लिये प्रेरणा दी है।

इसी तरह आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में 30 वें सर्ग में प्राणायाम का चन्द श्लोकों में ऋणात्मक पक्ष बताकर प्राणायाम से भी आगे बढ़ने की प्रेरणा दी है किन्तु 29 वें सर्ग में 100 श्लोकों द्वारा प्राणायाम का वर्णन किया है, समर्थन किया है व महिमा गाई है। उदाहरण —

स्मरगरलमनोविजयं समस्तरोगक्षयं वपुः स्थैर्यम्।
पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न सन्देहः॥

जन्मशतजनितमुग्रं प्राणायामाद्विलीयते पापम्।
नाडीयुगलस्यान्ते यतेर्जिताक्षरस्य वीरस्य॥ [4]

अनुवाद : पवन के प्रचार करने में चतुर योगी कामरूपी विषयुक्त मन को जीतता है व समस्त रोगों का क्षय करके शरीर में स्थिरता करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। इस पवन के साधनरूप प्राणायाम से जीती हैं इन्द्रियां जिसने ऐसे धीर वीर यति के सैकड़ों जन्मों के संचित किये हुए तीव्र पाप दो घड़ी के भीतर - भीतर लय (नष्ट) हो जाते हैं।

इस सर्ग के तीसरे श्लोक में प्राणायाम के तीन लक्षण बताये हैं - पूरक (नाक द्वारा वायु भरना), कुम्भक (वायु को रोकना) एवं रेचक (वायु छोड़ना)। देखिये —

त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः।
पूरकः कुम्भकाश्चैव रेचकस्तदनन्तरम्॥ [5]

आगे के श्लोकों में पूरक, कुम्भक एवं रेचक का विस्तार आचार्य ने किया है।

प्रश्न यह उठता है कि यह विरोध एवं समर्थन एक ही आचार्य द्वारा एक ही ग्रन्थ में एक साथ क्यों? उत्तर स्पष्ट है - गृहस्थ की एवं सामान्य योगी की भूमिका में प्राणायाम उपयोगी है किन्तु आगे पहुँचे हुए योगी की भूमिका में श्वांस भरने, श्वांस रोकने व श्वांस छोड़ने का उद्यम करना उसके उच्च स्तर के ध्यान में उपयोगी एवं आवश्यक न होकर बाधक हो सकता है। जहाँ ध्यान, ध्याता व ध्येय का विकल्प न हो वहाँ श्वांस की तरफ ध्यान देने की बात बहुत दूर रह जाती है।

सारांश यह है कि हमें हमारे आचार्यों का पूर्ण अभिप्राय समझकर हमारी भूमिका के अनुसार आरोग्य व मन को स्थिर करने में उपयोगी प्राणायाम को अपनाना है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि आज के कई प्रयोग यह सिद्ध कर रहे हैं कि ऐसा करने वाले बीमार कम होते हैं व उनको दवा खर्च बहुत कम होता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ज्ञानी की मान्यता में तो त्रिकालीध्रुव आत्म तत्त्व ही उपादेय होता है।

सन्दर्भ

1. बलभद्र जैन, जैन धर्म का सरल परिचय, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर, 1996, पृ. 257
2. आचार्य शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, गुजरात, वि.सं. 2051, सर्ग 30, श्लोक 4, पृ. 237
3. वही, सर्ग 30, श्लोक 9, पृ. 238
4. वही, सर्ग 29, श्लोक 99 - 100. पृ. 235 - 236
5. वही, सर्ग 29, श्लोक 3, पृ. 222

प्राप्त - 4.5.2000

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जैन धर्म और विज्ञान*

■ आर.आर. नांदगांवकर**

भगवान ऋषभदेव जन्मजयंती समारोह के पावन दिवस पर तथा कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ के पुरस्कार वितरण समारोह के शुभ अवसर पर आयोजित संगोष्ठी के द्वितीय सत्र का विषय **'जैन धर्म और विज्ञान'** रखा है।

धर्म और विज्ञान का कोई संबंध हो सकता है क्या? इनमें कोई समानता हो सकती है क्या? यह चुम्बक के दो ध्रुवों जैसे विरोधाभासी हैं? क्या एक की धारणा करने से दूसरे पर कुछ प्रभाव पड़ता है? आदि अनेक प्रश्न सुधी श्रोताओं को दिग्भ्रमित कर सकते हैं। इन पर शांतिपूर्वक सोचना, मनन चिंतन करना आवश्यक है। मेरे पूर्व एक वक्ता (पं. रतनलालजी जैन साहब) ने कहा था कि 'वस्तु स्वभाव ही धर्म है।' बस! इसी को आगे लेकर चलना चाहिये। विज्ञान क्या करता है? वस्तु का स्वभाव ही तो उद्घाटित करता है। विज्ञान कहता है कि नमक खारा है, शक्कर मीठी है, नीम कड़वा है, यह इन वस्तुओं के स्वभाव ही तो दर्शाते हैं। अब! यह सोचिये कि मनुष्य भी तो इस संसार में एक वस्तु ही तो है। जब, इस मनुष्यरूपी वस्तु का स्वभाव जान जाओगे तो उसका धर्म भी जान जाओगे। सदियों से मनुष्य अपने को जानने की कोशिश कर रहा है, पर सही रास्ता न मिलने के कारण 'चौरासी लाख योनियों में' जन्म-मरण के चक्र में उलझ कर रह गया है। मानव विकास की श्रृंखला में हम भी निरन्तर बदलते रहे हैं। हमारा शरीर आयु, शारीरिक संहनन, शक्ति, सामर्थ्य सभी तो बदलते रहे हैं। भगवान ऋषभदेव कालीन मनुष्य की आयु 'लाख पूर्व वर्षों' में तथा ऊँचाई 500 धनुष प्रमाण से बदलते हुए आज केवल कुछ 'दशक वर्ष' और कुछ 'हाथ' में आ गई है। विज्ञान की क्रांति ने हमारे आस-पास जो विराट स्वरूप प्रस्तुत किया उसके कारण हम अपना बौनापन महसूस नहीं कर रहे हैं। आप जो भी कुछ देख रहे हैं, वे सारी की सारी वस्तुऐं विज्ञान की देन हैं। जब हम इस चकाचौंध के बदलते विज्ञानमय वस्तुओं को देखते हैं तब हम अपने में स्थित एक अविनाशी, चिरस्वरूपी वस्तु को भूल जाते हैं। केवल, आत्मा ही आजतक किसी भी काल या समय में बदली नहीं है। बदलता है तो केवल पर्याय या शरीर। आपके इन्दौर शहर के होलकर विज्ञान महाविद्यालय के बारे में समाचार पत्रों में प्रकाशित एक समाचार पर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। वहाँ पढ़ने वाली दो लड़कियों को अपने गत जन्म का स्मरण हो गया कि वे दोनों पूर्वजन्म में सगी बहनें थीं। आज उनका शरीर तो बदल गया है पर उनकी आत्मा वही अजर-अमर है। मनुष्य का यह शरीर तो इस संसार में एक क्षण के बराबर साथ देता है। मनुष्य के मोह, माया, लोभ के कारण वह दिन रात एक करके जो कुछ चल-अचल सम्पत्ति, दौलत इकट्ठा करता है, वे सब यहीं धरी रह जाती हैं। जब भी किसी की मृत्यु होती है, चाहे कितना भी प्रिय व्यक्ति हो, आंखों का तारा हो, नयन सुखकारी हो, एक क्षण में नष्ट हो जाता है और जल्दी से जल्दी चक्रतीर्थ पहुँचाने की बात करते हैं। यही स्थिति विश्वविजेता सिकन्दर की हुई थी, और तो और जब चक्रवर्ती सम्राट भरत अपनी तीन लोक की विजयी यात्रा करने के बाद विजयार्ध पर्वत पर अपना नाम अंकित करने गये तो उन्होंने स्वयं अनुभव किया कि उनके पूर्व भी बहुत हो गये हैं। इस प्रकार यह जीवन 'असार' है, 'केवल माया है', इस पर रोना-धोना व्यर्थ है।

ऐसी स्थिति में मनुष्य के समक्ष केवल दो ही विकल्प (Options) रहते हैं - (1) स्वयं के आत्मस्वरूप को पहचान कर आत्मसाधना करें और कर्मों की निर्जरा करते हुए सिद्धपद प्राप्त करे, या (2) इस भौतिक विज्ञानमयी संसार के चक्र में **'पुनरपि मरणं, पुनरपि जननं'** के दुष्ट चक्र में उलझते रहना। आप स्वयं सोचें, आज आपकी प्राप्त अवस्था, शरीर जिसकी विशेष नाम, कुल, नगर, गांव की प्राप्ती है वे केवल इस जन्म की ही साथी हैं। आज के श्रीमान XYZ अपनी मृत्यु के बाद फिर से श्रीमान XYZ नहीं बनेंगे और न ही बन सकते। इसलिये मनुष्य को अपने स्वयं को जानना तथा पहचानकर धर्म का पालन करना कहा है।

अब, धर्म और विज्ञान का सम्बन्ध देखिये। धर्म के बिना विज्ञान लूला (lame) माना गया है। जिस प्रकार एक अपंग व्यक्ति स्थिर होकर चलता-फिर तो नहीं सकता, ठीक उसी प्रकार विज्ञान भी अस्थिर होकर अविज्ञान बनकर रह जायेगा। यदि वैज्ञानिक धरातल पर आधारित धर्म नहीं है तो उसकी भी वही स्थिति बनकर रहेगी। वह भी अधर्म बनकर निरुद्देश्य होकर समय-काल-चक्र में मृत हो जायेगा। जैन धर्म मनुष्यों द्वारा (तीर्थकरों ने) मनुष्यों के लिये, स्वयं को जानने, पहचानने, आचरण करने तथा कर्मशत्रुओं का सम्पूर्ण दमन करके स्वयं को मुक्त करने क प्रक्रिया का नाम है। उसको निजधर्म, विश्व मानव धर्म, जिनधर्म और अन्त में जैन धर्म के नाम से जाना गया। यह किसी व्यक्ति के नाम से नहीं जाना जाता जैसा कि बुद्ध धर्म, ख्रिस्त धर्म या इस्लाम धर्म, ना इसे किसी विशेष तीर्थंकर जैसे ऋषभदेव, पार्श्वनाथ या महावीर के नाम से संबोधित किया है। यह इसकी विशेषता है कि यह सर्वकालिक तथा सार्वभौमिक अंतिम सत्य का दर्शन है जिसको हम सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्दर्शन कहते हैं। विज्ञान भी यही सब करता है, उसका हर कदम सत्य की खोज में उठाया हुआ एक कदम ही रहता है। जैन धर्म का स्वरूप केवलज्ञानी त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरों के दिव्यध्वनि से ॐकारमय वाणी में उद्घाटित किया हुआ होने से सम्पूर्ण सत्य पर आधारित होने से श्रद्धापूर्वक ग्रहण करने योग्य है। विज्ञान भी अपने सामर्थ्य के अनुसार इसी सम्यक्ज्ञान की खोज में लिप्त है। जब दोनों के उद्देश्य एक दिशा निर्देश एक ही हैं तो उनमें, विरोधाभास हो ही नहीं सकता। फरक है तो केवल आपकी दृष्टि, आप का मार्ग और आपका विकल्प या उद्देश्य। यदि आपको कृष्ण भक्ति का रोग (To look the darker side only) हो गया है तो शुक्ल पक्ष का पूर्ण विकसित चन्द्रमा भी आपको शीतलता और शांति प्रदान नहीं कर सकता। इसलिये धर्म (जैन धर्म) वैज्ञानिक धर्म है और यह वीतराग विज्ञान है।

* **कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ द्वारा आयोजित ऋषभदेव संगोष्ठी (18 - 29 मार्च 2000) के द्वितीय सत्र में प्रदत्त उद्बोधन का सम्पादित रूप।**

** **पूर्व कुलपति, निदेशक - गणिनी ज्ञानमती शोधपीठ, हस्तिनापुर**

राष्ट्र की धड़कनों की अभिव्यक्ति

नवभारत टाइम्स

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

विकास का खंडहर

सबका हित किस में है?

■ राजेश जोशी *

विकास की बीमारी का एक स्थायी लक्षण है बहुत सारे लोगों को बेकार कर बहुत कम लोगों को रोजी - रोटी देना। यंत्रवाद के माल के उत्पादन के साथ - साथ बेकारी का उत्पादन भी जोर - शोर से बढ़ता है और दोनों के बीच मानों स्पर्द्धा चलती है। हजारों लाखों लोगों को बेकार कर कुछेक को रोजी रोटी देने वाले व्यवसाय या उद्योगों से राष्ट्र का हित होता है या अहित? यदि अहित होता है तो राष्ट्र का अहित करने वाले ऐसे व्यवसाय, उद्योग कानूनी तौर पर चलाये भी जा सकते हैं या नहीं, इसकी पड़ताल कानून विशेषज्ञों को अवश्य करनी चाहिये। यंत्रयुग से पनपी औद्योगिक क्रांति पूंजी की तरह रोजगार को भी सेन्ट्रलाइज करती है। मीट प्रोड्यूसिंग इन्डस्ट्री इसका सटीक उदाहरण है। (इन्डस्ट्री) शब्द प्रयोग के प्रति पाठकों की आपत्ति स्वीकार्य है क्योंकि हमें भी आपत्ति है। डेढ़ सौ बिलकुल नई कमीजों को फाड़कर कोई यदि उनमें से पन्द्रह सौ पोंछने बनाकर बेचे और उसकी प्रवृत्ति को 'पोंछना प्रोड्यूसिंग इन्डस्ट्री' कहकर सराहा जाये तो सबसे पहले उसका विरोध यह लिखने वाला ही करेगा। माँस के उत्पादन की प्रवृत्ति ऐसी ही मूर्खतापूर्ण है। पशुनाश की प्रवृत्ति को 'मीट प्रोड्यूसिंग इन्डस्ट्री' ऐसा सन्दर नाम देने से वह उद्योग बन जाये यह बड़े आश्चर्य व अफसोस की बात है।

माँस के उत्पादन से जुड़ा एक अद्यतन यांत्रिक बूचड़खाना कितने लोगों को बेरोजगार करता है, उसकी गिनती करनी हो तो कई क्लर्कों को काम में लगाना पड़ेगा। चलिये, कुछ गिनती हम ही करके देखते हैं। बहुचर्चित 'अल - कबीर' बूचड़खाने का उदाहरण बात को समझने में उपयोगी होगा।

अल - कबीर बूचड़खाने के संचालक अपनी परियोजना के समर्थन में कई दलीलें पेश करते हैं, जिनमें से एक यह है कि इस परियोजना द्वारा 300 लोगों को रोजगार मुहैया होगा। (कितनों को रोजी छीनकर? इस बात को छुपा जाने वाले बूचड़खाने के मालिकों को लोगों की मूढ़ता पर कितना अडिग विश्वास होगा!) उनकी दूसरी दलीलें भी कितनी कमजोर होंगी इसका कुछ अन्दाज इस दलील से आ जायेगा। कितनों का रोजगार छीनकर 300 लागों को रोजगार दिया जायेगा यह बात ग्रामीण क्षेत्र का किसान शहरी शिक्षित लोगों की अपेक्षा अधिक आसानी से समझ सकता है।

इस बूचड़खाने में प्रतिदिन 500 भैंसे काटने की क्षमता है। उस हिसाब से यहाँ 1,82,400 भैंसे साल भर में कटती हैं। अब चूंकि एक भैंस एक साल में 5,409 किलो गोबर देती है तो इन भैंसों से 9.87 लाख टन गोबर मिलेगा। सूखने पर गोबर आधा हो जाये तो भी वह 4,935 लाख टन बनेगा। एक कंडा करीब एक किलो वजन का होता है तो इतने गोबर में 49.35 करोड़ कंडे बनेंगे। एक कंडा कम से कम 50 पैसे में बिके तो सब कंडों का मूल्य 24.68 करोड़ रुपये होगा। गांव में बड़ी संख्या में औरतें गोबर बटोरती हैं और उससे कंडे बनाकर उन्हें बेचती हैं। ग्रामीण महिला के गुजारे के लिये 500 रुपये माहवार पर्याप्त हैं, ऐसा मान लें, तो उसे हर महिने 1000, और सालभर में 12,000 कंडे बेचने पड़ेंगे। अर्थात् 49.35 करोड़ कंडों से 41,125 औरतों को अपने गुजारे के लायक आमदनी होगी। इस प्रकार 500 भैंसों को प्रति दिन मारने वाला बूचड़खाना

41,125 ग्रामीण महिलाओं की रोजी पर सीधा हमला करता है।

यह तो बात हुई केवल गोबर के सन्दर्भ में। अब थोड़ा सा भैंस के दूसरे उपयोग के बारे में भी सोचते हैं। विदेशी मांसाहारियों के भोजन हेतु माँस का निर्यात करने वाले पूर्ण रूप से निर्यातलक्षी बूचड़खानों में सिर्फ बूढ़ी व निरूपयोगी भैंसों को काटा जाता है, इस बात को मानने से सुप्रीम कोर्ट ने भी इन्कार किया है। तब भी मान लें कि अल-कबीर में हर साल कटने वाली 1,82,400 भैंसों में से सिर्फ 1 लाख भैंसे तन्दुरूस्त व उपयोगी होती हैं और यह भी मान लें कि इनमें से 50,000 मादा (भैंस) है और 50,000 नर (भैंसे) हैं। आंध्रप्रदेश (जहाँ अल-कबीर बूचड़खाना स्थित है) में भार ढोने वाली गाड़ियों में भैंसों को जोता जाता है। ऐसे भैंसे की एक जोड़ी एक किसान को रोजी दे सकती है। उसी तरह दो भैंसों के दूध से एक किसान का गुजारा हो सकता है। इस प्रकार 1 लाख भैंसों द्वारा 50,000 लोगों का निर्वाह हो सकता है। दैनिक 500 भैंसों के कत्ल का सीधा कुप्रभाव 91,125 (41,125 गोबर के कंड़े बेचने वाली महिलायें + 50,000 भैंसगाड़ी व दूध वाले) लोगों के उपर पड़ेगा यह दिये जैसी स्पष्ट बात है।

यह तो हुई भैंसों की बात। अल-कबीर में इसके अलावा हर साल 5,70,000 भेड़ें/बकरियाँ काटी जाती हैं। मान लें कि उनमें से 50 प्रतिशत मादा हैं। 25 मादा भेड़ों को पालकर एक परिवार ठीक से निभ सकता है। तो इस प्रकार 2,85,000 भेड़ों के दूध से 11,400 परिवारों का निर्वाह हो सकता है। और ऊन तो नर व मादा दोनों से मिलता है। एक भेड़ से साल में औसतन डेढ़ किलो ऊन मिले, तो 5,70,000 भेड़ों से 8.55 लाख किलो ऊन मिलेगा। आज की दर से (100 रुपये प्रति किलो) उतने ऊन का मूल्य होगा करीब 8 करोड़ रुपये। ऊन की इतनी पैदावार से 40,000 परिवारों का गुजर-बसर हो सकता है।

केवल 300 लोगों को रोजी-रोटी देने वाला अल-कबीर कितने लोगों को बेरोजगार कर देता है। और फिर इन 300 लोगों की नौकरी टिकाये रखने के लिये अल-कबीर को प्रतिदिन नये-नये हजारों पशुओं को यांत्रिक वधस्तम्भ पर चढ़ाना पड़ता है। जब कि उन पशुओं को जीवित रखने में जिन लोगों को काम मिलता है, उनके लिये नित नये पशु भी आवश्यक नहीं हैं। वही पशु पूरे साल भर व स्वयं जब तक जीवित रहें तब तक पालक की आजीविका बनाए रखते हैं। उनके बच्चे पैदा होने से और अधिक लोगों को रोजगार मिलता है। यह कहा जा सकता है कि यदि 5 साल तक 300 लोगों की रोजी-रोटी टिकाये रखनी हो तो अल-कबीर को 5 साल में 9,00,000 भैंसों और 28,50,000 भेड़ों को मौत के घाट उतारना हेगा। उससे विपरीत यदि 1,80,000 भैंसों और 5,70,000 भेड़ों को कत्ल नहीं किया जाता तो वर्षानुवर्ष हजारों लोगों को रोजगार देंगे व बदलते दिन या साल के साथ नयी भैंसों और भेड़ों की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी।

पशुओं के वध या बचाव से रोजगारी पर जो बुरा या अच्छा असर पड़ता है उसकी तुलना करके पाठक स्वयं तय करें कि राष्ट्र के हित में क्या है? पशुओं का कत्ल या उनकी रक्षा? पशु देश के लिये आर्थिक बोझ हैं या मूल्यवान पूँजी?

अन्ततः, हम पशुओं को नहीं पालते, पशु हमें पालते हैं।

* - विनियोग परिवार
बी-2/104, वैभव, जांबली गली, बोरीवली (प.), मुम्बई-4000 092

प्राप्त - 9.6.2000

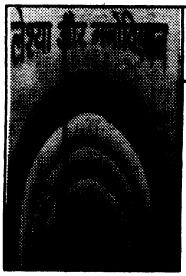

व्यक्तित्व निर्माण का प्रेरक तत्व लेश्या

पुस्तक - लेश्या और मनोविज्ञान
लेखक - डॉ. शान्ता जैन
प्रकाशक - जैन विश्व भारती, लाड़नूं (राज.)
मूल्य - रु. 150/-

समीक्षक - डॉ. (कु.) सरोज कोठारी, सहायक प्राध्यापिका - मनोविज्ञान,
शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, इन्दौर - 452 017

प्रथम अध्याय में लेश्या के सैद्धांतिक पक्ष के सन्दर्भ में लेखिका द्वारा प्रस्तुत लेश्या की परिभाषा, वर्गीकरण, वर्ण, रस, स्थिति आदि का उल्लेख सारगर्भित है। लेश्या मुक्ति - पथ का बाधक तत्व है। अतः लेशी से अलेशी बनने के लिये कर्म से अकर्म की तरफ बढ़ना आवश्यक माना गया है।

द्वितीय अध्याय में जैन दर्शन में प्रस्तुत लेश्या का मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण किया गया है। फ्रायड द्वारा प्रस्तुत चेतना के विविध पक्ष लेश्या से संबंधित हैं। मनोविज्ञान की परिभाषाओं में (पृ. सं. 55) व मूल पंक्तियों के वर्गीकरण (पृ. सं. 66) में मनोवैज्ञानिकों के नामों का उल्लेख किया जाता तो बेहतर होता। मन के स्तरों के सन्दर्भ में दमन शमन को (पृ. सं. 58) समानार्थी न मानकर अलग उल्लेख किया जाना था।

केवलज्ञान सिर्फ शुक्ल लेश्या में ही हो सकता है अतः लेश्या विशुद्धि को जीवन की श्रेष्ठता का आधार माना गया है।

तृतीय अध्याय में रंगों व व्यक्तित्व गुणों के संबंधों का उल्लेख है। रंग चिकित्सा (पृ. सं. 107) के अन्तर्गत यदि शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के लिये रंग चिकित्सा का विस्तार से उल्लेख किया जाता तो बेहतर होता।

चतुर्थ अध्याय में लेश्या विशुद्धि के सन्दर्भ में आभा मंडल की चर्चा एक सार्थक प्रयास है।

पंचम अध्याय में द्रव्य लेश्या के आधार पर बाहरी व्यक्तित्व तथा भाव लेश्या के आधार पर आंतरिक व्यक्तित्व की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। व्यक्तित्व प्रकारों के (पृ. सं. 140) अन्तर्गत यदि कैटेल द्वारा प्रस्तुत सर्वमान्य व व्यापक व्यक्तित्व वर्गीकरण का उल्लेख किया जाता तो बेहतर होता।

षष्टम अध्याय में व्यक्तित्व विघटन का कारण अशुभ लेश्याओं को माना गया है। लेश्या विशुद्धि को व्यक्तित्व बदलाव हेतु आवश्यक माना गया है।

सप्तम अध्याय में ध्यान के भेद - प्रभेद का उल्लेख है बौद्धिक विकास और भावनात्मक संतुलन को प्रेक्षाध्यान का सूत्र माना है।

अष्टम अध्याय में ध्यान और लेश्या के संबंधों का उल्लेख सराहनीय है। अशुभ लेश्या को शारीरिक व मानसिक समस्याओं का कारण माना गया है। व्यक्तित्व परिष्कार हेतु लेश्या का विशुद्धिकरण आवश्यक है। रंग ध्यान व्यक्तित्व रुपांतरण हेतु आवश्यक हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में जैन दर्शन में प्रस्तुत लेश्या को मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में क्रमबद्ध ढंग से प्रस्तुत किया गया है। लेश्या / भावधारा को छोड़कर मानसिक दशाओं की व्याख्या असंभव है। लेश्या और मनोविज्ञान परस्पर पूरक हैं। वर्तमान समय में लेश्या का अध्ययन अत्यंत प्रासंगिक है। मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में लेश्या के गहन अध्ययन का लेखिका का प्रयास सार्थक व सराहनीय है। प्रस्तुत पुस्तक महत्वपूर्ण व संग्रहणीय है।

विविधरूपेण सामग्री से परिपूर्ण पठनीय कृति

अभिवन्दना पुष्प : परमपूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी के एकादश दीक्षा दिवस पर प्रकाशित

सम्पादक : श्री निर्मल जैन, सतना एवं अन्य

प्रबन्ध सम्पादक : ब्र. अतुल भैया

प्रकाशक : प्राच्य श्रमण भारती, 12/1, प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर

समीक्षक : **कोकलचन्द जैन** (वरिष्ठ पत्रकार), जयपुर

'अभिवन्दना पुष्प' नाम के अनुरूप ही एक विशिष्ट कृति है। देशभर में सुदूर अन्तरंग इलाकों से अनेकों विद्वज्जनों की भावाभिव्यक्ति का अद्भुत संयोजन है। इस वैशिष्ट्यपूर्ण प्रकाशन का अपूर्व प्रसंग बना परमपूज्य उपाध्याय 108 श्री ज्ञानसागरजी महाराज का एकादश दीक्षा दिवस श्री महावीर जयंती 1999 के पावन सुयोग पर सीकर में।

निःसंदेह पूज्यश्री के लिए तो इन सब बातों से रंच मात्र भी सरोकार नहीं। तथापि पूज्यश्री के पावन सान्निध्य को पाकर समय-समय पर कृतार्थ भव्यजनों के लिए उल्लास और समर्पण के साथ अपनी विनयान्जलि की प्रस्तुति के सुअवसर का सृजन अवश्य हो सका। अलबत्ता यह एक सुविदित तथ्य है कि मनोभावों/भावनाओं की शाब्दिक अभिव्यक्ति कोई सहज संभाव्य नहीं बन पाती।

उल्लेखनीय होगा कि उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी महाराज सहज भाव से समाज के समग्र, सर्वांगीण, उन्नयन, निमित्त, उत्प्रेरक, सार्थक सद्-प्रयासों के प्रणेता बने हुए हैं। सराकोत्थान की दिशा में लाखों की संख्या में उपेक्षित सराक बन्धुओं के लिए समाज की मुख्य धारा में जुड़ाव का मार्ग प्रशस्त किया है। यह अपने आप में ही बहुत बड़ी बात है।

पूज्यश्री अपरिमित विद्धत्वात्सल्य से ओतप्रोत, अतुलनीय, क्षयोपशम के धनी, निस्पृह निर्ग्रन्थ सन्त, आगम अध्यात्म के महान उपदेष्टा हैं। ज्ञानार्जन एवं ज्ञान के आलोक का अंकुरण करते हुए ज्ञानोपलब्धि का प्रस्फुटन, विलुप्तप्राय साहित्य का अन्वेषण, शोधपरक अध्ययन को प्रकाशित करना आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण उद्देश्यों के उपदेष्टा है। अस्तु गरिमामय गौरव को अक्षुण्ण बनाए रखने की प्रतिबद्धता ही तो परिलक्षित होती है।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रभावकारी लगते हैं पूज्यश्री की पूर्व दैनन्दिनी से संकलित, मुक्ताकण मुख्य रूप से पूज्यश्री की तपःसाधना, वर्षायोग, ज्ञान के प्रसार, गृहस्थ धर्म, विद्वज्जनों हेतु उद्बोधन, शाकाहार, सराकोद्धार एवं अन्य विविध विषय विशेष उल्लेखनीय हैं। ऐसी लोकोपयोगी सामग्री और जानकारियों का संकलन व प्रकाशन जन-जन के लिए हितावह, कल्याणकारी और श्रेयस्कर है।

'अभिवन्दना पुष्प' विविधरूपेण सारगर्भित सामग्री से परिपूर्ण पठनीय, मननीय और संग्रहणीय कृति है। विद्वज्जनों के मन्तव्य की अभिव्यक्ति के साथ ही साथ व्यापक रूप से पूज्यश्री के अवदान को संजोकर सुरूचिपूर्ण समावेश किया गया है। एतावता इसे 'गागर में सागर' के रूप में देखा जाए तो कोई अतिशयोक्ति की बात नहीं होगी।

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

भगवान ऋषभदेव संगोष्ठी

जम्बूद्वीप – हस्तिनापुर, दिनांक 21 मई 2000

■ कृष्णा जैन *

21 मई 2000 को जम्बूद्वीप - हस्तिनापुर में परम पूज्य, गणिनीप्रमुख, आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी के सान्निध्य में तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ की साधारण सभा की बैठक के अवसर पर रात्रि 8.00 बजे से भगवान ऋषभदेव संगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसका सफल संचालन महामंत्री **डॉ. अनुपम जैन, इन्दौर** ने किया। महासंघ के अध्यक्ष **पं. शिवचरनलाल जैन, मैनपुरी** की अध्यक्षता में सम्पन्न संगोष्ठी का शुभारम्भ **डॉ. सुरेश जैन, लखनादौन** के मंगलाचरण से हुआ। डॉ. सुरेश जैन ने भगवान ऋषभदेव के जबलपुर संभाग में शिल्पांकन के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया। **प्रो. के. के. जैन, बीना** ने कहा कि भगवान ऋषभदेव ने मानव मात्र को जीवन जीने की कला सिखाई। युग परिवर्तन के समय पुरुषार्थ की सीख दी। साथ ही माता बहनों के लिये जीवन जीने के मूल्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि यदि हम वास्तव में भगवान ऋषभदेव के सिद्धान्तों का प्रचार एवं प्रसार करना चाहते हैं तो हमें गाँव - गाँव, गली - गली एवं चौपालों पर जन चेतना एवं वैचारिक क्रांति लानी होगी। **डॉ. (श्रीमती) कृष्णा जैन, ग्वालियर** ने भगवान आदिनाथ के वैश्विक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उनकी शिक्षाओं, सिद्धान्तों को जन - जन तक फैलाने की बात कही। भगवान ऋषभदेव वही अतिमानव हैं जिन्होंने मनुष्य को बर्बर युग से त्राण दिलाकर सभ्यता एवं संस्कृति की ओर उन्मुख किया। ऐसे अतिमानव के बारे में प्रचलित भ्रांतियों को दूरकर उनके वैश्विक स्वरूप को जनता के सामने लाना है।

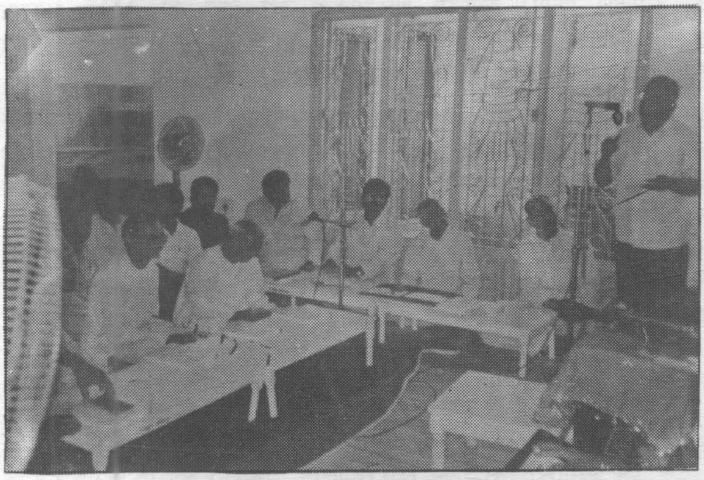

संगोष्ठी को सम्बोधित करते हुए श्री सूरजमल बोबरा

शोध छात्रा **कु. बबीता जैन, ग्वालियर** ने अहिंसक खेती एवं श्रम मार्ग के उपदेशक के रूप में भगवान आदिनाथ का विवेचन किया। **श्री सूरजमल बोबरा, इन्दौर** ने कुछ संकेतों की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा कि जब सर्वप्रथम आचार्यों ने जम्बूद्वीप की रचना के बारे में सोचा होगा, कैसे यह संकल्पना उनके मन में आई होगी, हमें इन संकेतों को एकत्रित करना चाहिये। भगवान मुनिसुव्रतनाथ तक तो हम जा हीं सकते हैं। इस प्रागैतिहासिक काल तक हम उन संकेतों को पा सकते हैं। **डॉ. वन्दना जैन, आगर – मालवा** ने भगवान ऋषभदेव की ऐतिहासिकता पर अपने विचार व्यक्त किया। **डॉ. सरोज जैन, बीना** ने भगवान ऋषभदेव को नारी शिक्षा का आदि प्रवर्तक कहा। उन्होंने अपनी दोनों पुत्रियों - ब्राह्मी और सुन्दरी को शिक्षा देकर नारी शिक्षा का मार्ग प्रशस्त किया।

डॉ. संजीव सराफ, सागर ने कुछ प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए कहा कि भगवान ऋषभदेव परिनिर्वाण महोत्सव पर डाक तार विभाग से अपील की जाये कि वह एक डाक टिकिट जारी करे एवं रेल मंत्रालय से भी आग्रह किया जावे कि वह भगवान आदिनाथ से भगवान महावीर तक की परम्परा से सम्बद्ध स्थलों को जोड़ने हेतु एक पर्यटन रेल प्रारम्भ करे। भगवान ऋषभदेव की शिक्षाओं पर आधारित सीरियल तैयार हों क्योंकि इनका असर जनता पर अति शीघ्र होता है एवं संगोष्ठियों के माध्यम से उनकी वैज्ञानिकता को उभारने पर बल दिया।

संगोष्ठी को संबोधित करते हुए डॉ. संजीव सराफ

डॉ. प्रकाशचन्द जैन, इन्दौर ने निर्वाण महोत्सव की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा कि जिसकी मृत्यु मर जाती है उन्हीं का निर्वाण होता है। इसीलिये तीर्थंकर आदिनाथ का निर्वाण महोत्सव मनाने का संकल्प पूज्य माताजी ने लिया। मृत्यु का अंत करने का उपदेश ही भगवान ऋषभदेव ने दिया। **पं. पदमचन्द्र जैन, पानीपत** ने कहा कि भगवान आदिनाथ का समय कितना वैज्ञानिक था जहाँ के इंजीनियर्स 86 मंजिल का सर्वतोभद्र महल बनाते थे। भगवान की ऊँचाई सवा पाँच सौ धनुष थी, इससे आप एक मंजिल की ऊँचाई का अनुमान लगा सकते हैं।

डॉ. नलिन के. शास्त्री, बोधगया ने इस बात को स्पष्ट किया कि हमें दूसरों के द्वारा कहे हुए मन्तव्यों की क्यों आवश्यकता पड़ती है। हम दूसरों के द्वारा कहे गये प्रमाणों को इसलिये एकत्रित करते हैं क्योंकि हमारी यह स्थिति रही है कि कालिदास को महाकवि हमनें तभी स्वीकार किया जब मैक्समूलर ने उसको स्वीकार किया। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि भगवान आदिनाथ की प्राचीनता को एक मानक भाषा, मानक विचार एवं मानक प्रमाण मिले। भगवान आदिनाथ को भारतीय चिंतन के विशिष्ट प्रतीक के रूप में स्थापित करने की आवश्यकता है।

डॉ. रमा जैन, छतरपुर ने विभिन्न सन्दर्भों के आधार पर भगवान आदिनाथ की प्राचीनता को व्याख्यापित किया। संघस्थ ब्रह्मचारिणी **बहिन इन्दु जैन** ने निर्वाण महोत्सव की उपयोगिता को स्पष्ट करते हुए आधुनिक कृषि के बिगड़ते हुए रूप पर चिंता प्रकट की एवं **ब्र. स्वाति जैन** ने गिरते हुए नैतिक जीवन को देखकर भगवान आदिनाथ के सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुँचाने की बात कही। **पं. जयसेन जैन, इन्दौर** (सम्पादक-सन्मति वाणी), **पं. खेमचन्द जैन, जबलपुर, श्री सत्येन्द्र जैन, जबलपुर** आदि ने भी अपने सारगर्भित, मौलिक विचार प्रकट किये। **प्राचार्य ताराचन्द जैन, बिलासपुर** ने यह प्रस्ताव किया कि हमें इस बात का प्रचार-प्रसार करना चाहिये की भारत का नाम ऋषभ पुत्र भरत के नाम पर ही रखा गया। **ब्र. रवीन्द्रकुमार जैन, हस्तिनापुर** ने सभी विद्वानों के प्रति आभार व्यक्त किया, आशीर्वाद एवं मंगल कामनाएँ की। **पं. शिवचरनलाल जैन, मैनपुरी** ने अध्यक्षीय उद्बोधन में कहा कि आज के युग में भी भगवान ऋषभदेव की संस्कृति प्रवाहमान है। आज भी व्यक्ति यह कहते हुए मिलता है कि यह भगवान का कार्य है। आपने भोगभूमि से कर्मभूमि की श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया। **पीठाधीश क्षु. श्री मोतीसागरजी** ने अपने मंगल उद्बोधन में कहा कि हम सभी धर्म की छाया में रहकर जीवन जीने का अभ्यास कर रहे हैं। तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ भी इस दिशा में एक प्रयास है। आपने जैन साधुओं के विहार में आने वाली व्यावहारिक कठिनाइयों की ओर ध्यान आकर्षित किया एवं सभी विद्वानों के प्रति आभार एवं शुभाशीषों के साथ ही संगोष्ठी के समापन की घोषणा की। संगोष्ठी को पूज्य माताजी का ससंघ सान्निध्य प्राप्त था।

संगोष्ठी के आयोजक तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ के **महामंत्री डॉ. अनुपम जैन** ने बताया कि 33 विशिष्ट विद्वानों की गौरवपूर्ण उपस्थिति ने इस संगोष्ठी की अलग पहचान बनाई।

❊ सहायक प्राध्यापिका - संस्कृत
महारानी लक्ष्मीबाई कला एवं वाणिज्य स्वशासी महाविद्यालय, ग्वालियर

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जैनधर्म की प्राचीनता पर राष्ट्रीय सेमिनार

जम्बूद्वीप - हस्तिनापुर, दिनांक 11 जून 2000

■ खिल्लीमल जैन *

*जैन धर्म की प्राचीनता एवं भगवान ऋषभदेव की जन कल्याणकारी शिक्षाओं के विश्वव्यापी प्रचार हेतु **गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी** ने 12 मार्च 1996 को कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर में ऋषभ जयंती 97 से ऋषभ जयंती 98 तक भगवान ऋषभदेव जन्मजयंती महामहोत्सव मनाने की घोषणा की थी। इस वर्ष की सफलतापूर्वक समाप्ति के बाद 4 - 6 अक्टूबर 98 के मध्य भगवान ऋषभदेव राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन का आयोजन माताजी की ही प्रेरणा एवं उनके ससंघ सान्निध्य में सम्पन्न हुआ। इसकी विस्तृत आख्या का भी प्रकाशन किया जा चुका है।*

ऋषभ निर्वाण दिवस 4 फरवरी 2000 को अन्तर्राष्ट्रीय भगवान ऋषभदेव निर्वाण महोत्सव वर्ष का उद्घाटन माननीय प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी बाजपेयी द्वारा किया जा चुका है। माताजी की ही प्रेरणा से श्री खिल्लीमल जैन एडवोकेट ने NCERT द्वारा प्रकाशित प्राचीन भारत पाठ्यपुस्तक तथा अन्य पाठ्यपुस्तकों में निहित जैन धर्म के विषय में भ्रामक जानकारियों के परिष्कार हेतु एक मुहिम चलाई। इसी श्रृंखला में दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर में 11 जून 2000 को एक राष्ट्रीय सेमिनार का आयोजन किया गया जिसमें पारित प्रस्ताव की अविकल प्रति यहाँ प्रस्तुत है। **सम्पादक**

प्रस्ताविक —

जैनधर्म अनादिकाल से चला आया शाश्वत, प्राकृतिक एवं सार्वभौमिक धर्म है। वस्तुत: जीवन की वास्तविक आचार संहिता का दूसरा नाम है - जैनधर्म। किन आचार बिन्दुओं को लेकर किस प्रकार जीवन का निर्वहन किया जाये, उस कला का सम्यक् उद्बोधन देने वाले सारे सूत्र जिसमें निहित हैं - वह है जैन दर्शन। अनादिकाल से यदि जीवन है तो अनादिकाल से ही जीवन कला है और इसीलिये अनादिकालीन ही जिनशासन है। इस युग में भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक 24 तीर्थंकरों ने इस आदि - परम्परा का प्रतिपादन किया है। अत: इस अनादिनिधन जैनधर्म का कोई मूलभूत संस्थापक नहीं है वरन् इस युग में भगवान ऋषभदेव इसके प्रथम प्रवर्तक थे। भगवान महावीर स्वामी परम्परा के अंतिम तीर्थंकर - प्रवर्तक थे, संस्थापक नहीं।

गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी का व्यक्तित्व

जैन समाज की परम तपस्वी, निर्दोषतम चारित्र की धारक, वर्तमान की माँ ब्राह्मी, जैनधर्म की ध्वजा को सम्पूर्ण विश्व में फहराने वाली परम पूज्य माताजी का जीवन धर्ममार्ग में प्रति क्षण व्युत्पन्न कर्मठता की अद्भुत मिसाल है। अगाध ज्ञान - निधि की समायोजना करने वाली पू. माताजी का हृदय समस्त जीव - राशि के कल्याण की कामना से अखिल विश्व में जिनधर्म के प्रचार - प्रसार का सदैव परिपोषक रहता है।

इस श्रृंखला में युग के प्रथम तीर्थंकर आदिब्रह्मा भगवान ऋषभदेव के नाम एवं जीवन दर्शन को विश्व के क्षितिज पर पुनर्प्रतिष्ठापित करने का महान लक्ष्य पू. माताजी ने वर्तमान में निर्धारित कर रखा है। भगवान ऋषभदेव जन्म जयंती महोत्सव, राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन, समवसरण - रथ श्रीविहार तथा वर्तमान में भगवान ऋषभदेव अन्तर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव वर्ष इसी श्रृंखला के स्तम्भ हैं।

जैनधर्म की प्राचीनता पर सेमिनार

प्रधान मंत्री श्री अटलबिहारी बाजपेयी द्वारा 4 फरवरी 2000 को उद्घाटित 'भगवान ऋषभदेव अन्तर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव वर्ष' के अन्तर्गत आयोजित की जाने वाली भगवान ऋषभदेव पर

1008 संगोष्ठियों की श्रृंखला में 11 जून 2000 को परम पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी (ससंघ) के मंगल सान्निध्य में दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के द्वारा जम्बूद्वीप - हस्तिनापुर तीर्थ क्षेत्र पर 'जैनधर्म की प्राचीनता' विषय पर राष्ट्रीय स्तर का एक सेमिनार आयोजित किया गया जिसमें देशभर से पधारे विद्वानों, इतिहासकारों एवं पुरातत्वविदों ने भाग लिया।

इसमें राष्ट्रीय स्तर पर पढ़ायी जाने वाली पाठ्यपुस्तकों में उपस्थित जैन धर्म से सम्बन्धित विसंगतियों को दूर करने हेतु विविध प्रमाणों से संयुक्त आलेखों का प्रभावपूर्ण प्रस्तुतीकरण किया गया।

इस प्रस्तुतीकरण के आधार पर निम्नांकित तथ्यों को सर्वसम्मति से संस्तुत किया गया -

1. इतिहास का निर्माण करने हेतु मात्र ऐतिहासिक साक्ष्य ही परिपूर्ण नहीं होते हैं, वरन् उसमें आगम ग्रन्थ, साहित्यिक साक्ष्यों तथा पुरातात्विक साक्ष्यों का समायोजन भी अत्यंत आवश्यक है, तभी उसमें पूर्णता का समावेश हो सकता है। ऐतिहासिक प्रमाणों की अनुपलब्धता मात्र से किसी के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता।
2. राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर पर पाठ्यपुस्तकों का निर्माण करने वाली शैक्षणिक संस्थाओं को धर्म अथवा संस्कृति विशेष पर पाठ्य सामग्री लिखने हेतु तद् विषयक विद्वानों एवं सम्बद्ध धर्मज्ञों को आमंत्रित करना चाहिये।
3. जैनधर्म की मूलभूत विषयवस्तु तथा भगवान ऋषभदेव से सम्बद्ध एक पुस्तिका राष्ट्रीय स्तर के सरकारी प्रकाशन के माध्यम से प्रकाशित की जाये ताकि जन - जन तक सही तथ्य पहुँच सकें।
4. पाठ्यपुस्तकों में जहाँ कहीं भी जैनधर्म विषयक विसंगतियाँ हैं, उनको दूर करने हेतु पुस्तक के लेखक - प्रकाशक इत्यादि से व्यक्तिगत स्तर पर सौहार्द्रपूर्ण बातचीत द्वारा सही प्रमाणों को प्रस्तुत करके परिवर्तन कराने का सृजनात्मक प्रयास किया जाये।
5. राज्यों की पाठ्यपुस्तक समितियों, राज्य शैक्षणिक एवं अनुसंधान परिषद (S.C.E.R.T) तथा राष्ट्रीय शैक्षणिक एवं अनुसंधान परिषद (N.C.E.R.T.) से अनुरोध है कि अपने यहाँ पुनरीक्षण कार्यशालाओं का आयोजन करके अपने संस्थानों से प्रकाशित पुस्तकों में जैन धर्म विषयक तथ्यात्मक विसंगतियों को दूर करना सुनिश्चित करें ताकि प्रामाणिक तथ्य ही जन - जन तक पहुँच सकें।
6. इतिहास, साहित्य एवं संस्कृति से सम्बन्धित पाठ्यपुस्तकों में इस युग में जैन धर्म के प्रथम प्रवर्तक आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का स्वतंत्र पाठ अवश्य समाहित किया जाये।

सेमिनार में प्रतिभागी विद्वानों की सूची -

1. डॉ. प्रीतिश आचार्य, एन.सी.ई.आर.टी, दिल्ली
2. प्रो. विजयकुमार पाण्डेय, डॉ. राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद
3. डॉ. शुभचन्द्र, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर
4. डॉ. एन. वसुपाल, मद्रास विश्वविद्यालय, चेन्नई
5. डॉ. रमेश जैन, नगर नियोजन वास्तु विज्ञान विभाग, एम.ए.सी.टी. भोपाल
6. डॉ. देवेन्द्रस्वरूप अग्रवाल, पूर्व सम्पादक - पाँचजन्य, नई दिल्ली
7. डॉ. श्रवणकुमार गुप्ता, अलवर
8. डॉ. सी.पी. माथुर, निदेक - मनोवैज्ञानिक परीक्षण, परामर्श प्रबन्ध अध्ययन केन्द्र, अलवर
9. श्री राजमल जैन, वरिष्ठ इतिहास विद्, नई दिल्ली
10. डॉ. संजीव सराफ, पुस्तकालयाध्यक्ष, सागर
11. श्री आर. एस. जैन, अलवर
12. श्री खिल्लीमल जैन, वरिष्ठ अधिवक्ता, अलवर (संयोजक)

* एडवोकेट, 2 विकास पथ,
अलवर (राज.)

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन

चैन्नई, दिनांक 28 - 31 मई 2000

■ कृष्णा जैन *

दिनांक 28 मई 2000 को चैन्नई में मद्रास विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के सौजन्य से 40 वें अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन का उद्घाटन सत्यभामा इंजीनियरिंग कॉलेज के विशाल प्रांगण में हुआ। जिसमें देश के लगभग 1500 विद्वानों ने इस ज्ञान यज्ञ में अपनी आहुति दी। संस्कृत, वांगमय एवं प्राच्य विद्या के 20 सेक्शन इस सम्मेलन में आयोजित किये गये।

अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन में प्राकृत एवं जैन विद्या विभाग की अध्यक्षता करने का श्रेय इसी विभाग के अध्यक्ष डॉ. प्रेमसुमन जैन, (मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर) को प्राप्त हुआ। आप प्राच्य विद्या सम्मेलन की कार्यकारिणी के सदस्य भी हैं। इस विभाग में लगभग 60 से अधिक जैन विद्वानों की उपस्थिति रही। डॉ. श्रीमती कृष्णा जैन, सहायक प्राध्यापिका - संस्कृत, महारानी लक्ष्मीबाई कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, ग्वालियर ने अन्य विद्वानों के साथ मध्यप्रदेश का प्रतिनिधित्व किया। आपने अपना शोध पत्र प्रस्तुत कर ग्वालियर महानगर एवं मध्यप्रदेश का गौरव बढाया। श्री नीरज जैन (सतना), श्री रामजी राय (भोजपुर), डॉ. सुदीप जैन (दिल्ली), डॉ. जयकुमार उपाध्ये (दिल्ली), श्री कमलेश्वर सी. चौकसी (अहमदाबाद), डॉ. वेणीमाधव जोशी (धारवाड़), डॉ. रानी मजूमदार (अलीगढ़), डॉ. जिनेन्द्र जैन (लाड़नूं), डॉ. अशोककुमार जैन (लाड़नूं), डा. विजयकुमार जैन (लखनऊ), श्रीमती राका जैन (लखनऊ), डॉ. सुचित्रा राय (हाजीनगर), डॉ. एन. वसुपाल (चैन्नई), श्रीमती प्रिया जैन (चैन्नई), श्री एस. कृष्णचन्द चौरड़िया (चैन्नई), डॉ. आर.एस. सैनी, डॉ. कमलेश जैन (दिल्ली), डॉ. सत्यरंजन बनर्जी (कलकत्ता) आदि विद्वानों ने अपने शोध पत्र प्रस्तुत किये।

अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में डॉ. प्रेमसुमनजी ने कहा कि आज विश्व में स्थान - स्थान पर जैन धर्म एवं प्राकृत विषय पर अध्ययन एवं अनुसंधान हो रहा है। हमें जैन धर्म के साहित्य के अध्ययन एवं अनुसंधान को आगे बढ़ाना है। प्रत्येक जैन के घर से माता, बहनें एवं भाई इसको अपने अध्ययन का विषय बनायें तो वह दिन दूर नहीं जबकि विश्व क्षितिज पर यह धर्म, दर्शन अपने गौरवशाली इतिहास को प्रकट कर सकेगा। आपके अध्यक्षीय उद्बोधन को **परमपूज्य आचार्य श्री विद्यानंदजी महाराज** की प्रेरणा से कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित किया गया। **'प्राकृत और जैन धर्म का अध्ययन (बीसवीं सदी के अंतिम दशक में)'** शीर्षक से प्रकाशित यह पुस्तक समस्त विद्वानों को वितरित की गई। पुस्तक में कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर की गतिविधियों को प्रमुखता से उल्लिखित किया गया है।

दिनांक 29 मई 2000 को सायं 5.00 बजे से रात्रि 10.00 बजे तक श्री जैन आराधना भवन, 351, मिंट स्ट्रीट, साहुकारपेट, चैन्नई में चैन्नई की जैन समाज द्वारा विद्वानों का भावभीना स्वागत एवं अभिनन्दन किया गया। इस अभिनन्दन में चैन्नई जैन समाज की सभी संस्थायें सम्मिलित थीं। **समाज सेविका श्रीमती सरिता जैन** द्वारा भी विद्वानों का फलों के पैकेट से अभिनन्दन किया गया। चैन्नई जैन समाज के इस अभिनन्दन से सभी विद्वान अभिभूत थे। साथ ही एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव अध्यक्ष महोदय के द्वारा समाज के सामने रखा गया कि प्राकृत के विश्व सम्मेलन की आवश्यकता विगत कई वर्षों से महसूस की जा रही है। चैन्नई जैन समाज इस को सम्पन्न कराने में आगे आये। इस प्रस्ताव को समाज की ओर से सहर्ष स्वीकार किया गया।

* सहायक प्राध्यापिका - संस्कृत,
महारानी लक्ष्मीबाई कला एवं वाणिज्य स्वशासी महाविद्यालय, **ग्वालियर**

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर का प्रकल्प

सन्दर्भ ग्रन्थालय

आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि महोत्सव वर्ष के सन्दर्भ में 1987 में स्थापित कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ ने एक महत्वपूर्ण प्रकल्प के रूप में भारतीय विद्याओं, विशेषत: जैन विद्याओं, के अध्येताओं की सुविधा हेतु देश के मध्य में अवस्थित इन्दौर नगर में एक सर्वांगपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थालय की स्थापना का निश्चय किया।

हमारी योजना है कि आधुनिक रीति से दाशमिक पद्धति से वर्गीकृत किये गये इस पुस्तकालय में जैन विद्या के किसी भी क्षेत्र में कार्य करने वाले अध्येताओं को सभी सम्बद्ध ग्रन्थ / शोध पत्र एक ही स्थल पर उपलब्ध हो जायें। हम यहाँ जैन विद्याओं से सम्बद्ध विभिन्न विषयों पर होने वाली शोध के सन्दर्भ में समस्त सूचनाएँ अद्यतन उपलब्ध कराना चाहते हैं। इससे जैन विद्याओं के शोध में रूचि रखने वालों को प्रथम चरण में ही हतोत्साहित होने एवं पुनरावृत्ति को रोका जा सकेगा।

केवल इतना ही नहीं, हमारी योजना दुर्लभ पांडुलिपियों की खोज, मूल अथवा उसकी छाया प्रतियों / माइक्रो फिल्मों के संकलन की भी है। इन विचारों को मूर्तरूप देने हेतु दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम, 584, महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर पर नवीन पुस्तकालय भवन का निर्माण किया गया है। 30 जून 2000 तक पुस्तकालय में 7150 महत्वपूर्ण ग्रन्थ एवं 1042 पांडुलिपियों का संकलन हो चुका है। जिसमें अनेक दुर्लभ ग्रन्थों की फोटो प्रतियाँ सम्मिलित हैं ही। अब उपलब्ध पुस्तकों की समस्त जानकारी कम्प्यूटर पर भी उपलब्ध है। फलत: किसी भी पुस्तक को क्षण मात्र में ही प्राप्त किया जा सकता है। हमारे पुस्तकालय में लगभग 300 पत्र - पत्रिकाएँ भी नियमित रूप से आती हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

आपसे अनुरोध है कि —

संस्थाओं से : 1. अपनी संस्था के प्रकाशनों की 1 - 1 प्रति पुस्तकालय को प्रेषित करें।

लेखकों से : 2. अपनी कृतियों (पुस्तकों / लेखों) की सूची प्रेषित करें, जिससे उनको पुस्तकालय में उपलब्ध किया जा सके।

3. जैन विद्या के क्षेत्र में होने वाली नवीनतम शोधों की सूचनाएँ प्रेषित करें।

दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम परिसर में ही अमर ग्रन्थालय के अन्तर्गत पुस्तक विक्रय केन्द्र की स्थापना की गई है। सन्दर्भ ग्रन्थालय में प्राप्त होने वाली कृतियों का प्रकाशकों के अनुरोध पर बिक्री केन्द्र पर बिक्री की जाने वाली पुस्तकों की नमूना प्रति के रूप में उपयोग किया जा सकेगा। आवश्यकतानुसार नमूना प्रति के आधार पर अधिक प्रतियों के आर्डर दिये जायेंगे।

श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, भावनगर के सहयोग से संचालित प्रकाशित जैन साहित्य एवं जैन पांडुलिपियों के सूचीकरण की परियोजना भी यहीं संचालित होने के कारण पाठकों को बहुत सी सूचनाएँ यहाँ सहज उपलब्ध हैं।

देवकुमारसिंह कासलीवाल
अध्यक्ष

30.6.2000

डॉ. अनुपम जैन
मानद सचिव

पार्श्वनाथ विद्यापीठ - इन्दौर परिसर को शोध केन्द्र के रूप में मान्यता

जैन धर्म दिवाकर स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के यशस्वी **आचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी महाराज साहब** की सद्प्रेरणा से स्थापित ख्यातिप्राप्त पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी की स्वतंत्र इकाई इन्दौर परिसर को देवी अहिल्या वि.वि., इन्दौर ने शोध केन्द्र के रूप में मान्यता प्रदान कर दी है। इस संदर्भ में यह महत्वपूर्ण है कि मात्र एक वर्ष की अवधि में वर्द्धमान सेवा केन्द्र ट्रस्ट द्वारा शोधकर्ताओं को अपने विषय से सम्बंधित अध्ययन की दृष्टि से दिवाकर ग्रन्थालय, रतलाम कोठी, इन्दौर में पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पुस्तकालय में पाँच हजार धर्म शास्त्र एवं दुर्लभ धर्मग्रन्थों का संग्रह किया गया है, जिनसे विभिन्न अंगों पर शोधकार्य किया जा सकता है।

इस शोध केन्द्र में देश के किसी भी वि.वि. से एम.ए. की डिग्री प्राप्त करने वाले अभ्यार्थी विश्वविद्यालय द्वारा स्थापित मापदण्डों के अनुरूप पीएच.डी.की उपाधि हेतु रजिस्ट्रेशन करवाकर शोध कार्य कर सकता है। इस सन्दर्भ में विश्वविद्यालय के इस शोध केन्द्र में धर्म, दर्शन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में विभिन्न विषयों में अध्ययन, पठन - पाठन, शोध, मनन - चिंतन और अनुसंधान की डाक्टरेट स्तर तक विभिन्न स्तरों की सुविधाएँ उपलब्ध कराई जायेंगी।

इस केन्द्र में श्रद्धेय साधु - साध्वियों, श्रावक - श्राविकाओं और पूरे भारतीय समाज के जिज्ञासु व्यक्तियों को जैन धर्म एवं दर्शन पर अध्ययन, शोध और पठन - पाठन की अनुकूल सुविधाएँ उपलब्ध हैं। पार्श्वनाथ विद्यापीठ, इन्दौर परिसर के दिवाकर भवन में एक और मंजिल का निर्माण कार्य लगभग सम्पन्न हो चुका है।

जैन समाज के सभी धर्मप्रेमी और श्रद्धालु महानुभावों तथा संस्थाओं से हमारा यह विनम्र अनुरोध है कि वे इस विद्यापीठ द्वारा ऊपलब्ध सुविधाओं से पूरा - पूरा लाभ उठायें। केन्द्र के संयोजकों ने अनुरोध किया है कि आपकी जानकारी में जो भी श्रद्धेय संत - साध्वीगण एवं श्रावक - श्राविकाएँ जैन दर्शन का उच्च अध्ययन व शोध कार्य करना चाहते हों, उन्हें इस संस्था द्वारा प्रदत्त सुविधाओं से अवगत कराकर शोध कार्य हेतु अपना रजिस्ट्रेशन पार्श्वनाथ विद्यापीठ, इन्दौर में कराने का कष्ट करें।

सम्पर्क सूत्र — पार्श्वनाथ विद्यापीठ इन्दौर परिसर
एफ - 11, रतलाम कोठी, इन्दौर - 452 003
फोन : (का.) 264151 (नि.) 531642

वाग्भारती पुरस्कार डॉ. सुरेन्द्र जैन 'भारती' को प्रदत्त

वर्ष 1999 का वाग्भारती पुरस्कार बुरहानपुर (म.प्र.) के युवा विद्वान **डॉ. सुरेन्द्र जैन 'भारती'** को प्रदान किया गया। आचार्य श्री पुष्पदंतसागरजी महाराज के ससंघ सान्निध्य में आयोजित जैन मन्दिर, न्यू रोहतक रोड़, दिल्ली में आयोजित भव्य एवं विशाल समारोह के मध्य वाग्भारती (मैनपुरी) के अध्यक्ष व पुरस्कार संस्थापक डॉ. सुशील जैन मैनपुरी ने यह पुरस्कार उन्हें प्रदान किया। इस पुरस्कार में रु. 11,000 = 00 की नगद राशि एवं प्रशस्ति प्रदान की गई।

महावीर पुरस्कार वर्ष 2000 एवं ब्र. पूरणचन्द्र रिद्धिलता लुहाड़िया पुरस्कार 2000

प्रबन्धकारिणी कमेटी, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी के वर्ष 2000 के **महावीर पुरस्कार** के लिये जैन धर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य, संस्कृति आदि से सम्बन्धित किसी भी विषय की पुस्तक / शोध प्रबन्ध की चार प्रतियाँ **दिनांक 30 सितम्बर 2000** तक आमंत्रित हैं। इस पुरस्कार में प्रथम स्थान प्राप्त कृति को रु. 21001/- एवं प्रशस्ति पत्र प्रदान किया जायेगा तथा द्वितीय स्थान प्राप्त कृति को ब्र. पूरणचन्द्र रिद्धिलता लुहाड़िया साहित्य पुरस्कार के अन्तर्गत रु. 5001/- एवं प्रशस्ति पत्र प्रदान किया जायेगा। 31 दिसम्बर 1996 के पश्चात् प्रकाशित पुस्तक ही इसमें सम्मिलित की जा सकती हैं।

यह सूचित करते हुए हर्ष है कि वर्ष 99 का महावीर पुरस्कार डॉ. अनिरूद्धकुमार शर्मा को उनकी कृति 'श्रीमद्बाग्भट विरचितं नेमिनिर्वाणम् - एक अध्ययन' तथा ब्र. पूरणचन्द रिद्धिलता लुहाड़िया पुरस्कार दिगम्बर जैन मन्दिर महासंघ, जयपुर को उनके प्रकाशन 'दिगम्बर जैन मन्दिर परिचय जिला जयपुर (ग्रामीण अंचल)' पर दिनांक 19.4.2000 को श्रीमहावीरजी में महावीर जयंती के वार्षिक मेले के अवसर पर प्रदान किया गया।

नियमावली व आवेदन पत्र का प्रारूप प्राप्त करने के लिये संस्थान कार्यालय, दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई मानसिंह रोड़, जयपुर - 4 से पत्र व्यवहार करें।

■ **डॉ. कमलचन्द सोगाणी, संयोजक**

स्वयंभू पुरस्कार 2000

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर के वर्ष 2000 के स्वयंभू पुरस्कार के लिये अपभ्रंश साहित्य से सम्बन्धित विषय पर हिन्दी अथवा अंग्रेजी में रचित रचनाओं की चार प्रतियाँ 30 सितम्बर 2000 तक आमंत्रित हैं। इस पुरस्कार में रु. 21001 = 00 नगद एवं प्रशस्ति पत्र प्रदान किया जायेगा।

31 दिसम्बर 1995 से पूर्व प्रकाशित तथा पहले से पुरस्कृत कृतियाँ सम्मिलित नहीं की जायेंगी।

■ **डॉ. कमलचन्द सोगाणी, संयोजक**

जैन सोशल वेलफेअर एसोसिएशन (रजिस्टर्ड)

छात्रवृत्तियाँ 2000 – 2001

उच्च तकनीकी शिक्षा के लिये रिफन्डेबल (वापसी) तथा स्कूल / कालेज शिक्षा के लिये नान रिफन्डेबल (वापिस न होने वाली) छात्रवृत्तियाँ योग्यता एवं कमजोर आर्थिक स्तर के आधार पर उपलब्ध हैं। आवेदन प्रपत्र एक लिफाफे (24 x 10 mm) पर अपना पता व रु. 2/- का डाक टिकिट भेजने से प्राप्त कर सकते हैं। आवेदन पत्र हमें मिलने की **अंतिम तिथि 15.8.2000।**

मंत्री - छात्रवृत्ति
जैन सोशल वेलफेअर एसोसिएशन,
एफ - 83, ग्रीन पार्क (मेन), **नई दिल्ली** – 110 016

श्री सम्मेशिखरजी में खुदाई में 19 दिगम्बर जैन मूर्तियाँ मिलीं

बिहार के गिरिडीह जिलान्तर्गत मधुबन में स्थित जैनों के पवित्रतम तीर्थ श्री सम्मेदशिखर में नीचे स्थित भौमियांजी के मूर्तिपूजक श्वेताम्बर जैन मन्दिर के परिसर की पृष्ठभूमि में विगत दिनों 19 जैन मूर्तियां खुदाई में निकली हैं। ये सभी दिगम्बर जैन मूर्तियां हैं तथा प्राप्त विवरण के अनुसार लगभग 500 वर्ष पूर्व सन् 1491 ई. में जयपुर के भट्टारक श्री जिनचन्द्र के निर्देशन में दिगम्बर जैन श्रावक श्री जीवराज पापड़ीवाल ने प्रतिष्ठित करवा के शिखरजी में विराजमान कराई थीं। इस आशय का उल्लेख संदर्भ ग्रन्थों में प्राप्त है।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल द्वारा लिखित तथा 1989 में प्रकाशित पुस्तक 'खण्डेलवाल जैन समाज का वृहद् इतिहास' में लिखा है कि भट्टारक श्री जिनचन्द्रजी से श्री जीवराज पापड़ीवाल ने मंडासा (राजस्थान) में संवत् 1548 (सन् 1491 ई.) में एक विशाल पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराई थी जिसमें एक लाख दिगम्बर जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवा कर उन्हें देश के सभी प्रमुख भागों में मन्दिरों व तीर्थों पर विराजमान कराने के लिये भेजा था। दिल्ली के प्रसिद्ध श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिर की मुख्य बेदी में विराजमान भगवान पार्श्वनाथ की व अन्य प्रतिमाएँ भी उन्हीं में से बताई जाती हैं और उन पर सन् 1491 (संवत् 1548) अंकित है। जैन सभा, दिल्ली द्वारा सन् 1961 व 1970 में प्रकाशित जैन डाइरेक्टरी में इसका स्पष्ट वर्णन है। देश के जयपुर, नागौर, अजमेर, हैदराबाद, नागपुर, इन्दौर आदि नगरों में ये मूर्तियां इस प्रशस्ति के साथ विराजमान हैं।

इन मूर्तियों के प्राप्त होने से दिगम्बर जैन समाज में व्यापक हर्ष है और इसे उनकी इस धारणा को बल मिलता है कि पारसनाथ पर्वत (शिखरजी) पर कभी पारसनाथ टोंक, जल मन्दिर तथा अन्यत्र दिगम्बर जैन मूर्तियां विराजमान थीं। खुदाई में मिली ये मूर्तियां संभवतः उन्हीं में से हैं। ऐसा कहा जा रहा है कि वहां न केवल अभी और दिगम्बर जैन मूर्तियां दबी हुई हैं। अपितु भगवान पार्श्वनाथ की वह मूर्ति संभवतः वहीं है जो पारसनाथ टोंक पर थी। यह उल्लेखनीय है कि सन् 1905 के आसपास अनेक दिगम्बर जैन मूर्तियां सम्मेदशिखर पर्वत से गायब हुई थीं, जिनको लेकर तत्कालीन दिगम्बर जैन समाज ने शिकायत दर्ज की थी, दिगम्बर जैन समाज की यह चिन्ता और अपेक्षा है कि इन मूर्तियों को यथाशीघ्र उनके पूर्व स्थान पर विराजमान किया जाये ताकि उनकी पूजा - अर्चना प्रारम्भ हो जाये।

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष साहू रमेशचन्द जैन ने भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की महानिदेशक श्रीमती कोमल वर्धन को एक पत्र देकर अनुरोध किया है कि श्री शिखरजी में सरकारी अधिकारियों के संरक्षण में रखी ये मूर्तियां दिगम्बर जैन समाज को सौंपी जाये क्योंकि ये सभी मूर्तियां पूजनीय हैं तथा प्राप्त होने के बाद उनकी अवमानना से समाज की भावनाएँ आहत होती हैं। समाज चाहता है कि इनकी विधिवत पूजा - अर्चना की जाये। गिरिडीह (बिहार) से श्री अमलकुमार जैन की सूचना के आधार पर खुदाई में प्राप्त प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है - (1) पार्श्वनाथ (अगल - बगल में चन्द्रप्रभु, कुन्थुनाथ, मुनिसुव्रत और पद्मप्रभु), (2) शांतिनाथ, (3) शांतिनाथ (जीवराज पापड़ीवाल सवत् 1548), (4) कोई चिन्ह अभिलेख नहीं, (5) बिना चिन्ह संवत् 1725, (6) पार्श्वनाथ 9 फण, 1548, (7) शांतिनाथ - जीवराज पापड़ीवाल, (8) पार्श्वनाथ मूलनायक - चौबीसी, 1548, जीवराज पापड़ीवाल, (9) पद्मावती - पीछे पार्श्वनाथ, (10) पार्श्वनाथ, 1548, (11) पार्श्वनाथ, 1548, जीवराज पापड़ीवाल, जिनचन्द्र भट्टारक, (12) पार्श्वनाथ, जीवराज पापड़ीवाल, (13) पार्श्वनाथ, श्री मूलसंघ भट्टारक जिनचन्द्रजी, 1548, जीवराज पापड़ीवाल, (14) आदिनाथ, 1548, (15) पार्श्वनाथ, 1548, जीवराज पापड़ीवाल, (16) पार्श्वनाथ, 1548, जीवराज, (17) पद्मावती - पार्श्वनाथ, 1548, (18) पार्श्वनाथ, 1548, (19) पार्श्वनाथ की खण्डित मूर्ति।

अहिंसा इण्टरनेशनल द्वारा जैन धर्म पर संपूर्ण पुस्तक लेखन के लिए

51 हजार रुपये का पुरस्कार

अभी तक जैन धर्म पर कोई संपूर्ण पुस्तक उपलब्ध नहीं है, जिसका अभाव देश एवं विदेश दोनों में ही खटक रहा है। अहिंसा इण्टरनेशनल ने देश के अतिख्याति प्राप्त विद्वानों से साक्षात बैठक में विचार विमर्श कर इस पुस्तक के लिए निम्न परिच्छेद निश्चित किये हैं -

1. उद्‌भव (20 पृष्ठ)
2. विकास (30 पृष्ठ)
3. धर्म (40 पृष्ठ)
4. दर्शन (40 पृष्ठ)
5. जैन योग तंत्र - मंत्र (30 पृष्ठ)
6. भाषा (30 पृष्ठ)
7. साहित्य (40 पृष्ठ)
8. जैन संघ (40 पृष्ठ)
9. समाज (30 पृष्ठ)
10. विदेशों में जैन धर्म (30 पृष्ठ)
11. मूलाचार (30 पृष्ठ)
12. श्रावकाचार (30 पृष्ठ)
13. आहार - शाकाहार (20 पृष्ठ)
14. जैन विज्ञान (30 पृष्ठ)
15. संस्कृति (30 पृष्ठ)
16. जैन कला, पुरातत्व एवं तीर्थ (80 पृष्ठ)।

कुल 550 पृष्ठ की यह पुस्तक रॉयल आक्टेव आकार में हिन्दी में बहुत अच्छे कागज पर प्रकाशित होनी है।

उपर्युक्त परिच्छेदों पर पुस्तक की टाइप की हुई दो पाण्डुलिपियां भेजना आवश्यक है। पुस्तक की भाषा साहित्यिक हिन्दी होनी है, किन्तु संस्कृतनिष्ठ नहीं। उर्दू शब्दों का प्रयोग नहीं। सामग्री प्रामाणिक हो। भाषा प्रवाह तथा तारतम्य का विशेष ध्यान रहे। सर्वोत्तम कृति के कृतिकार को 51 हजार का पुरस्कार एक भव्य समारोह में दिल्ली में भेंट किया जायेगा। पुस्तक लेखन पर अन्य रायल्टी नहीं दी जायेगी। पुस्तक के स्व - प्रकाशन अथवा अन्य प्रकाशक से प्रकाशन पर अधिकार अहिंसा इण्टरनेशनल का होगा। पुस्तक सचित्र होगी, जिसके लिए चित्र अहिंसा इण्टरनेशनल उपलब्ध करेगा। लेखक भी बहुत सुन्दर चित्र दे सकते हैं। पाण्डुलिपि में संशोधन करने का अधिकार अहिंसा इण्टरनेशनल को रहेगा। पाण्डुलिपि लगभग दिसम्बर 2000 के अंत तक निम्न पते पर प्राप्त होना अपेक्षित है।

श्री सतीश कुमार जैन,
महासचिव, अहिंसा इण्टरनेशनल
सी - III/3129 बसंतकुंज,
नई दिल्ली - 110 070

जैन विद्या का पठनीय षट्‌मासिक

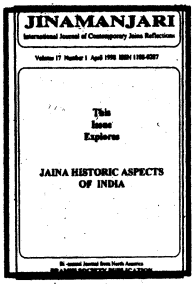

JINAMANJARI

Editor - S.A. Bhuvanendra Kumar
Periodicity - Bi-annual (April & October)
Publisher - **Brahmi Society, Canada-U.S.A.**
Contact - Dr. S.A. Bhuvanendra Kumar
4665, Moccasin Trail,
MISSISSAUGA, ONTARIO,
Canada l4z 2w5

दिगम्बर जैन सोशल ग्रुप 'नेमिनाथ', इन्दौर ने विगत दिनों अर्हत् वचन में प्रकाशित एक अनुरोध पर त्वरित कार्यवाही कर एक आयोजन किया जिसमें N.C.E.R.T. द्वारा प्रकाशित 'प्राचीन भारत' पुस्तक की विसंगतियों पर विस्तार से चर्चा हुई। हम उनके द्वारा प्रकाशित हेण्डबिल को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं। यह हजारों की संख्या में इन्दौर में वितरित किया गया है।

क्या अब हमें 'तीर्थंकर हुए थे' इसकी भी रजिस्ट्री पेश करना होगी?

सभी (दिगम्बर / श्वेताम्बर) जैन समाज के बन्धुओं!

जैन समाज में रीडर डाइजेस्ट सी प्रतिष्ठा प्राप्त पत्रिका 'अर्हत् वचन' के अप्रैल 2000 अंक में पृष्ठ 66 पर 'भारत के मनीषी इतिहासकारों से निवेदन' शीर्षक से अलवर के एडवोकेट खिल्लीमल जैन का जो लेखकीय निवेदन प्रकाशित हुआ है कृपया उसे अक्षरश: यथावत पढ़िये।

इस वैचारिक स्वतंत्रता के युग में किसी के व्यक्तिगत विचारों हेतु हम उससे लड़ नहीं सकते ना ही हम किसी को ऐसा बाध्य कर सकते हैं कि जो हम मानते हैं उसे तुम भी मानों। परन्तु इसका यह मतलब भी नहीं है कि व्यक्तिगत मान्यता की बौद्धिक अजीर्णता वाली हठधर्मिता भरी जिद वैधानिक रूप में बाकायदा पढ़ाये जाने वाली पाठ्यपुस्तक में स्थान पाकर विद्यार्थियों को स्थायी तौर पर रटाई जाने लगे। यह तो जैन समाज की हजारों साल से स्थापित अटूट आस्था, श्रद्धा पर एक तरह से सीधा आक्रमण है।

तीर्थंकरों के सन्दर्भ में हमारे पास तो खैर एक नहीं पचासों प्रमाण है। बावजूद अगर प्रमाण नहीं भी हो तो धार्मिक आस्था ऐसा विषय है जिसमें किसी भी लेखक को बौद्धिक आक्रमण नहीं करना चाहिये। सब जानते हैं कि पीपल के नीचे सिन्दूर लगा पत्थर कुछ माह पहले तक रास्ते के किनारे पड़ा हुआ पत्थर हो सकता है। परन्तु क्या आस्था के सिन्दूर से उसके भगवान बन जाने के पश्चात् क्या यह व्यवहार्य होगा कि कोई यह कुतर्क करते हुए कहे कि बताओं इसमें भगवान कहाँ है उसे ठोकर मारते हुए हजारों मानने वालों की आस्थाओं का अपमान करने लगे।

लेखक द्वारा भगवान महावीर को बगैर वस्त्र बदले 12 वर्ष तक इधर-उधर भटकते हुए बताने का आखिर उद्देश्य क्या है? क्या वह यह बताना चाहता है कि महावीर बावले हो गये थे? क्योंकि हमारे श्रद्धान में तो हमारे पूज्य मुनिवर, गुरु विहार करते हुए भटके हुओं को सही मार्ग दिखाते हैं ना कि खुद भटकते हैं।

वैसे तो इस तरह का फूहड़ लेखन अति संवेदनशील होकर घोर उत्तेजना का कारण बन सकता है परन्तु हमारी अहिंसक समाज का स्वरूप और चिंतन ऐसा नहीं है कि हम आवेश में आकर ऐसे लेखन के प्रति कोई फतवा जारी कर दें। हम यह तो कर सकते हैं तथा यह करना भी चाहिये कि अपने शांतिपूर्ण विरोध को केन्द्रीय शासन के सामने बगैर किसी उत्तेजना के, सभ्यतापूर्ण ढंग से पूरी एकता के साथ विनम्रतापूर्वक दर्ज करा दें जिससे कि ना सिर्फ उपरोक्त स्तर का लेखन पुस्तकों से हटा दिया जाये बल्कि आगे भी ऐसा लेखन पुन: न हो इसके प्रति अन्य लेखक भी सावधान रहें और हमें यह विश्वास है कि समाज के शीर्ष नेतृत्व द्वारा प्रथम निवेदन करने पर ही ऐसे पाठ पाठ्यक्रमों से हटा दिये जायेंगे।

हम अहिंसक एवं सभ्य हैं, सड़कों पर उतरना या उत्तेजनापूर्ण बयानबाजी, विज्ञप्तियां देना हमारा चरित्र नहीं है और फिर इस घटना ने तो हमें नये सिरे से कुछ सोचने हेतु जाग्रत किया है और वह यह कि कमजोरी हमले को स्वाभाविक तौर पर न्योता देती है तथा कमजोरी तभी होती है जब हममें मतभेद होकर आपसी एकता तथा उसकी मजबूती का अभाव होता है, अत: परम्परानुसार जैसा कि हम विघ्न आने पर तथा किसी नई शुरूआत के अवसर पर सर्वप्रथम प्रभु की स्तुति एवं आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। उसी अनुसार भगवान आदिनाथ प्रभु की 24 घंटे की अखंड स्तुति करने का निश्चय किया है, इस संकल्प के साथ कि हमारी एकता इतनी मजबूत बने जिससे कि इस तरह के विघ्न नहीं आवें।

डॉ. हीरालाल जैन जन्म शताब्दी समारोह सम्पन्न

कालिदास अकादमी एवं डॉ. हीरालाल जैन जन्म शताब्दी समारोह समिति द्वारा संयुक्त रूप से 17 - 18 जून 2000 को उज्जैन में डॉ. हीरालाल जैन जन्म शताब्दी समारोह मनाया गया। 2 सत्रों में सम्पन्न इस कार्यक्रम के प्रथम सत्र में न्यायमूर्ति श्री एन.के. जैन की उपस्थिति उल्लेखनीय रही। द्वितीय सत्र की अध्यक्षता की पूर्व सांसद श्री महेश दत्त मिश्र ने एवं मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे वरिष्ठ पत्रकार श्री अवन्तीलाल जैन। विशेष अतिथि के रूप में इन्दौर से पधारे डॉ. नेमीचन्द जैन, सम्पादक - तीर्थंकर तथा डॉ. अनुपम जैन, सम्पादक - अर्हत् वचन ने अपना उद्‌बोधन दिया। डॉ. अनुपम जैन ने डॉ. हीरालाल जैन के जैन गणित के अध्ययन के क्षेत्र में दिये गये परोक्ष अवदान की विस्तार से चर्चा की।

जबलपुर से पधारे डॉ. धर्मचन्द जैन तथा डॉ. राजेन्द्र त्रिवेदी ने भी सभा को सम्बोधित किया।

बधाईयाँ

सुश्री सरोज चौधरी को पीएच.डी.

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ की शोध छात्रा सुश्री सरोज चौधरी को उनके शोध प्रबन्ध **'प्रमुख जैन पुराणों में प्रतिपादित राजनीति का समीक्षात्मक अध्ययन'** पर डॉ. उषा तिवारी के मार्गदर्शन में देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर ने राजनीति विज्ञान विषय पर पी.एच.डी. की उपाधि प्रदान की है।

श्री लालचन्द्रजी राकेश 'धर्म दिवाकर' की उपाधि से विभूषित

श्री 1008 भगवान शीतलनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर ट्रस्ट समिति, सांची द्वारा आयोजित श्री मज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एवं गजरथ महोत्सव में सक्रिय सहयोग तथा उनकी पाँच दशक की धर्म, समाज एवं साहित्य की समर्पणयुक्त अमूल्य सेवाओं के लिये तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ के वरिष्ठ सदस्य पंडित लालचन्द्र जैन 'राकेश', गंजबासौदा को **'धर्म दिवाकर'** की उपाधि से अलंकृत किया गया।

■ **अनिलकुमार जैन 'अनुराग', गंजबासौदा**

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ परिवार की ओर से हार्दिक बधाई।

मत - अभिमत

अर्हत् वचन का जनवरी - मार्च 2000 अंक आज ही मिला। इसमें प्रकाशित विभिन्न उपयोगी लेखों के सन्दर्भ में मैं निम्नांकित बिन्दु आपके विचारार्थ प्रेषित कर रहा हूँ जिन पर आप विचार करके प्रकाशन एवं अन्य आवश्यक कार्यवाही करने का कष्ट करें -

1. आपका संपादकीय आलेख निःसन्देह सामयिक है। मैं तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ द्वारा 'सम्पर्क' डाइरेक्ट्री के प्रकाशन पर हार्दिक बधाई अर्पित करता हूँ।

2. डॉ. संगीता मेहता का लेख, 'जैन धर्म की प्राचीनता और ऋषभदेव' तथा डॉ. स्नेहरानी का लेख, 'ऋग्वेद मूलतः श्रमण ऋषभदेव प्रभावित कृति है' इतने अधिक उपयोगी है कि प्रशंसा के लिए मेरे पास उपयुक्त शब्द नहीं है। आपके माध्यम से मेरा लेखक द्वय से अनुरोध है कि इन दोनों लेखों के आधार पर विस्तृत पाठ्य पुस्तक का सृजन किया जावे जिसमें संदर्भित उद्धरणों को अर्थ सहित उद्धरित किया जावे तथा जोड़ी गई विकृतियों / परिस्थितियों का विस्तार से विवेचन हो।

3. डॉ. दयाचन्दजी जैन साहित्याचार्य के लेख, 'महामंत्र णमोकार - एक तात्विक एवं वैज्ञानिक विवेचन' के सम्बन्ध में मैं आपका ध्यान अर्हत् वचन के अक्टूबर 1996 अंक में मत - अभिमत के अन्तर्गत प्रकाशित मेरी टिप्पणी, 'मंत्र विद्या की जैन मान्यता संदिग्ध' की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ। विद्वान लेखक ने धरसेनाचार्य के शिष्य आचार्य पुष्पदंत को णमोकार महामंत्र का रचयिता बताया है, अतः इसे अनादि नहीं कहा जा सकता। महासमिति पत्रिका में प्रकाशित न्यायमूर्ति एम.एल. जैन ने महामंत्र के वर्तमान स्वरूप एवं ऐतिहासिकता पर विस्तार से प्रकाश डाला है। लेख से मंत्र के मात्र स्थूल जाप से गृह शान्ति, दुःख निवारण आदि का उल्लेख किया है। यदि ऐसा है तो मंत्र में प्रतिष्ठित पंच परमेष्ठी के उपदेश, निर्दिष्ट मार्ग एवं उनके आचरण का अनुकरण अप्रासंगिक हो जावेगा। जैन दर्शन पुरुषार्थ प्रधान है, रत्नत्रय मार्ग के अनुसरण, जैन आचार संहिता में निर्दिष्ट, सद्चरित्र, कषाय शमन, अणुव्रत - महाव्रत अनुपालन, तप, त्याग आदि से ही अशुभ कर्मों की संवर - निर्जरा, शुभ - शुद्ध परिणति संभव है। मंत्रों की सार्थकता पर साधारण व्यावहारिक प्रयोग किया जा सकता है, कोई होनहार विद्यार्थी केवल मंत्र का जाप करे विषय का अध्ययन नहीं करे और देखें कि वह उत्तीर्ण होता है या नहीं। यदि मंत्र का जाप ही अभीष्ट हो तो उसमें निहित शिक्षा, आदर्श तिरोहित हो जावेंगे और शिथिलाचारियों के लिए यह एक अच्छा बहाना होगा। इससे समाज में सदाचरण, तप - त्याग के प्रति और अधिक ह्रास होगा, अनाचार बढ़ेगा। लेख में पंचम श्रुतकेवली भद्रबाहु आचार्य का भी उल्लेख किया गया है जबकि उस समय कुछ लिखा ही नहीं गया था। उपलब्ध साहित्य उनके बाद अल्पल्प स्मृति के आधार पर धरसेनाचार्य एवं गुणधराचार्य से उनकी शिष्य परम्परा द्वारा प्रणीत आगमोत्तर है।

4. श्री हेमन्त कुमार जैन ने अपने लेख 'अन्य ग्रहों पर जीवन' में पृष्ठ 51 पर किसी महाशक्ति को जगत का कर्त्ता, संचालक किसी एक ईश्वर को प्रतिपादित किया है जो जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों के विपरीत है। जैन समाज की यह दुःखद त्रासदी है कि जैन विद्वान भी जैन सिद्धान्तों के विपरीत प्रतिपादन करते है। .....आदि।

■ **सूरजमल जैन**
7 - बी तलवंडी प्राइवेट सेक्टर,
कामर्स कालेज रोड़, **कोटा** - 324 005 (राज.)

अर्हत् वचन जनवरी - मार्च 2000 का अंक प्राप्त हुआ। पूरा अंक पठनीय है। 'जैनधर्म आचार दृष्टि:' लेख से संस्कृत भाषा के प्रचार - प्रसार की दृष्टि पाकर आनन्द से भर गया हूँ। आंग्ल भाषा की तरह संस्कृत भाषा के आलेख भी हर अंक में प्रकाशित होना चाहिये। पत्रिका की साज - सज्जा एवं मुद्रण उत्तम है।

■ **ब्र. संदीप 'सरल'**
संस्थापक - अनेकान्त ज्ञान मन्दिर (शोध संस्थान), **बीना**

अर्हत् वचन का जनवरी - मार्च 2000 अंक मिला। सम्पूर्ण अंक देखा, पढ़ा। आप लेखों की गुणवत्ता एवं सम्पादन पर बहुत ध्यान देते हैं। आवरण पृष्ठ आल्हादकारी है। दुर्गम बद्रीनाथ नगर में भगवान ऋषभदेव सम्बन्धी जैन स्थापना, पूज्य गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी के लेख 'भगवान ऋषभदेव' में जैन कालखंड एवं भगवान ऋषभदेव विषयक विद्वत्तापूर्ण क्रमबद्ध विवरण दिया गया है, इतिहास सरीखा। श्री सुधीरकुमार जैन का सचित्र लेख जैन डाक टिकटों पर रोचक सामग्री प्रस्तुत करता है। आप जैन गणित के ज्ञाता विद्वान हैं। विषय पर निरन्तर सुन्दर लिखते हैं। अंक के सभी लेख शोधपूर्ण, सात्विक हैं। भगवान ऋषभदेव के निर्वाण उपलक्ष पर ऐसे सुन्दर अंक प्रकाशन के लिये मेरी हार्दिक बधाई।

■ **सतीशकुमार जैन**
महासचिव - अहिंसा इन्टरनेशनल, **नई दिल्ली**

अर्हत् वचन' त्रैमासिकी हाथ में आने के बाद कठिनाई से छूटती है। उसे पूरा करके ही संतोष होता है। हर अंक में ऐसी सामग्री आती है कि उसे पढ़कर आनंद आता है, अंतरंग प्रसन्न हो उठता है, 'ज्ञान - कोष' में और वृद्धि हुई, 'कुछ और पाया', हमेशा ऐसा महसूस होता है।

सोचता हूँ वह दिन निश्चय ही शुभ था कि वर्ष - 1, अंक - 1 से ही अर्हत् वचन मंगाने लगा, वरना निश्चय ही मैं भारी घाटे में रहता। अप्रैल - जून 2000 का अर्हत् वचन परिचय दे रहा है कि किस प्रकार वह निखार पर है आप लोगों की देखरेख में।

'क्या डूंगरसिंह जैन धर्मानुयायी था?' श्री रामजीतजी जैन का एक लेख बड़ी मूल्यवान जानकारी दे गई। अपभ्रंश भाषा के महाकवि रइधूजी की जानकारी (1140 - 1536) एवं ग्वालियर गजेटियर 1908, तोमर खानदान के 1140 - 1473 का हवाला देकर लुप्त इतिहास को प्रकाश में लाकर जिज्ञासुओं पर बड़ा उपकार किया है। लेखक श्री रामजीतजी जैन की भी एक पीड़ा है, उन्होंने अंत में अपील भी की है - 'अब तथ्य आपके सामने है, कथ्य आपको बढ़ाना है, सत्य प्रगटाना है।'

मैं यही कहूँगा कि लेख में जो कुछ विषय को उजागर किया/या संकेत दिये हैं उन्हें श्री रामजीजी ही आगे बढ़ासकते हैं, वे ही सत्य को प्रगट कर सकते हैं। 'दर्द तूने दिया, दवा भी तू दे', यह मेरे भाव नहीं हैं किन्तु उन्हें जितनी ललक है, जानकारी है, अंतरंग व्यथा है उतनी शायद ही किसी को हो, उन्हें आप लोग दबाइये कि वे ही लेख में दी गई जानकारी को आगे बढ़ायें।

मेरा विश्वास है कि आप जैसे महानुभाव एवं अर्हत् वचन जैसी पत्रिका ही श्री रामजीतजी से कुछ प्राप्त कर सकती है। इस ओर आप प्रयत्न करें, हम आपके हृदय से आभारी होंगे, हम अल्पज्ञ हैं, विद्वानों की विद्वान अवश्य मानेंगे। अस्तु। यह त्रैमासिकी दीर्घायु हो। आप सब लोगों का भी आभारी हूँ, ऋणी हूँ। विनम्र,

■ **पदमकुमार जैन**
'सन्मति' आनासागर के सामने, कृष्णगंज रोड़, **अजमेर (राज.)**

भगवान महावीर की 2600 वीं जयन्ती

भगवान महावीर की 26 सौवीं जन्म-जयंती के ऐतिहासिक अवसर को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाने के लिये देश की समग्र जैन समाज के एक केन्द्रीय संगठन के रूप में भगवान महावीर जन्म कल्याणक महोत्सव महासमिति का गठन किया गया है। इसके अध्यक्ष सुप्रसिद्ध समाजसेवी श्री दीपचन्द गार्डी, मुम्बई तथा कार्याध्यक्ष टाइम्स आफ इंडिया की चेयरमैन श्रीमती इन्दु जैन हैं। महासमिति का कार्यालय नई दिल्ली में रहेगा तथा महासमिति इस महोत्सव के लिये भारत सरकार द्वारा गठित राष्ट्रीय समिति को कार्यक्रमों में सहयोग देगी तथा सामाजिक स्तर पर इसके अन्तर्गत प्रत्येक राज्य में जन्म कल्याणक समितियां गठित की जायेंगी। केन्द्रीय समिति के अन्य पदाधिकारियों में श्री एस. सी. शाह व श्री मांगीलाल सेठिया को उपाध्यक्ष, साहू रमेशचन्द जैन व श्री एल.एल. आच्छा को जनरल सेक्रेटरी तथा श्री राजकुमार जैन को कोषाध्यक्ष चुना गया है।

यह समिति महोत्सव वर्ष के लिये ऐसा व्यापक कार्यक्रम तैवार कर रही है जिससे भगवान महावीर के उपदेशों का व्यापक प्रचार-प्रसार हो सके और साथ ही पर्यावरण, सामाजिक शांति, सद्भाव, स्वास्थ्य, शिक्षा एवं लोक सेवा के क्षेत्र में व्यापक रूप से जन कल्याणकारी कार्यक्रम क्रियान्वित हो सकें। महोत्सव समिति की कार्य सूची में जो विशेष कार्यक्रम नियोजित किये गये हैं उनके अन्तर्गत मुख्य है - भगवान महावीर की स्मृति में डाक टिकिट, प्रथम दिवस आवरण, सिक्कों आदि को जारी कराना तथा विशेष रेल गाड़ियां चलवाना, अहिंसा व शाकाहार के प्रचार के लिये प्रदर्शनियों का आयोजन, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महोत्सव में सम्मिलित होने के लिये यूनेस्को से अनुरोध, मानव-सद्भावना के वातावरण की दृष्टि से सर्वधर्म मैत्री शिखर सम्मेलन की आयोजना, कैदियों की रिहाई, भगवान महावीर के नाम पर एक विश्वविद्यालय, राजमार्ग, अस्पताल, उद्यान आदि का नामकरण, भारतीय संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से जैन विद्या के राष्ट्रीय शोध केन्द्रों की स्थापना, पाठ्यपुस्तकों मे जैन धर्म तथा भगवान महावीर के विषय में लिखी मिथ्या बातों को निकलवाना तथा संशोधित कराना, वैशाली में स्मारक की स्थापना, जैन दर्शन के विषय में विविध भाषाओं में पुस्तकों का प्रकाशन, देश से मांस निर्यात को बन्द करने पर बल, महावीर के उपदेशों का दूरदर्शन, समाचार पत्र आदि के माध्यम से प्रचार-प्रसार, जैन दर्शन की तुलनात्मक विवेचना के लिये विद्वत् गोष्ठियों का आयोजन, जन-कल्याणकारी कार्यक्रमों के अन्तर्गत असहाय व निर्बल वर्ग की मदद, जैन जीवन शैली एवं नैतिक शिक्षा के आधार पर पब्लिक स्कूलों की स्थापना, पर्यावरण की रक्षा के लिये वृक्षारोपण, जल संसाधनों का संरक्षण, पशुओं के प्रति अत्याचारों को रुकवाना, समाजिक उत्थान के लिये समाज के युवा उद्यमियों, कमजोर वर्ग की महिलाओं, विकलांगों, विधवाओं आदि की मदद, गोशालाओं की स्थापना, जैन तीर्थक्षेत्रों का पर्यावरण की दृष्टि से विकास, होटलों व विमानों में जैन भोजन की व्यवस्था पर बल, जैन संस्कृति की रक्षा के लिये संग्रहालयों की स्थापना आदि। दिल्ली में स्थित भगवान महावीर केन्द्र विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन एवं शोध केन्द्र के रूप में कार्य करेगा (देखें मुखपृष्ठ)। विभिन्न शहरों में इसकी शाखायें रहेंगी।

जन्मकल्याणक महोत्सव समिति की एक बैठक यहाँ श्रीमती इन्दु जैन के निवास पर श्री दीपचन्द गार्डी की अध्यक्षता में हुई जिसमें इन सभी कार्यक्रमों को स्वीकार करते हुए महोत्सव को अत्यन्त भव्य स्तर पर मनाने का संकल्प व्यक्त किया गया।

Filling hearts with happiness and minds with memories.

It has been 50 glorious years and this

is just the beginning of our journey.

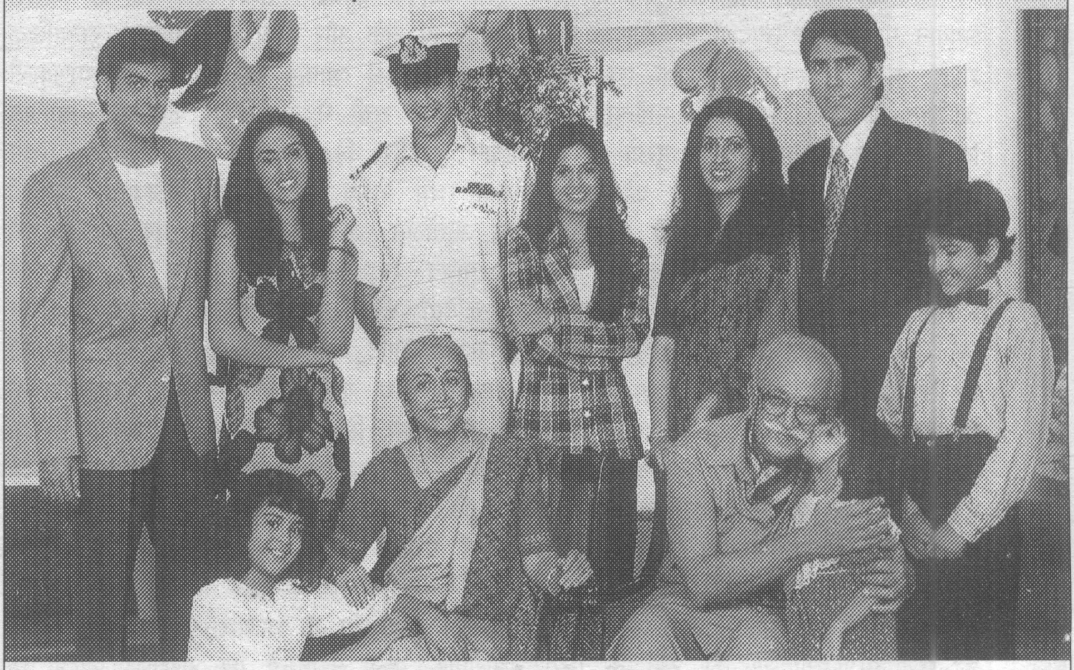

S. Kumars®

FABRIC OF A GOLDEN INDIA

• PREMIUM SUITINGS • SHIRTINGS • SAREES • DRESS MATERIALS • SCHOOL UNIFORMS
• WORK WEAR • WORSTEDS • HOME LINEN • TERRY TOWELS

Visit us at : http://www.skumars.com

PERCEPT/SK-838

ज्ञानोदय पुरस्कार – 99 की घोषणा

श्रीमती शांतिदेवी रतनलालजी बोबरा की स्मृति में श्री सूरजमलजी बोबरा, इन्दौर द्वारा कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर के माध्यम से ज्ञानोदय पुरस्कार की स्थापना 1998 में की गई है। वह सर्वविदित तथ्य है कि दर्शन एवं साहित्य की अपेक्षा इतिहास एवं पुरातत्व के क्षेत्र में मौलिक शोध की मात्रा अल्प रहती है। फलत: यह पुरस्कार जैन इतिहास के क्षेत्र में मौलिक शोध को समर्पित किया गया है। इसके अन्तर्गत पुरस्कार राशि में वृद्धि करते हुए वर्ष 2000 से प्रतिवर्ष जैन इतिहास के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ शोध पत्र/पुस्तक प्रस्तुत करने वाले विद्वान को रुपये 11000/- की नगद राशि, शाल एवं श्रीफल से सम्मानित किया जायेगा।

वर्ष 1998 का पुरस्कार रामकथा संग्रहालय, फैजाबाद के पूर्व निदेशक **डॉ. शैलेन्द्र रस्तोगी** को उनकी कृति **'जैन धर्म कला प्राण ऋषभदेव और उनके अभिलेखीय साक्ष्य'** पर 29.3.2000 को समर्पित किया गया।

वर्ष 1999 का पुरस्कार प्रो. हम्पा नागराजैय्या **(Prof. Hampa Nagarajaiyah)** को उनकी कृति **'A History of the Rastrakutas of Malkhed and Jainism** पर प्रदान करने की घोषणा की गई है। यह पुरस्कार शीघ्र ही समारोह पूर्वक प्रदान किया जायेगा।

वर्ष 2000 से चयन की प्रक्रिया में परिवर्तन किया जा रहा है। अब कोई भी व्यक्ति पुरस्कार हेतु किसी लेख या पुस्तक के लेखक के नाम का प्रस्ताव सामग्री सहित प्रेषित कर सकता है। चयनित कृति के लेखक को अब रु. 11000/- की राशि, शाल, श्रीफल एवं प्रशस्ति प्रदान की जायेगी।

चयनित कृति के प्रस्तावक को भी रु. 1000/- की राशि से सम्मानित किया जायेगा। वर्ष 2000 के पुरस्कार हेतु प्रस्ताव सादे कागज पर एवं सम्बद्ध कृति/आलेख के लेखक तथा प्रस्तावक के सम्पर्क के पते, फोन नं. सहित 30 सितम्बर 2000 तक कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, 584, महात्मा गांधी मार्ग, तुकोगंज, इन्दौर - 452 001 के पते पर प्राप्त हो जाना चाहिये।

जैन विधाओं के अध्ययन/अनुसंधान में रुचि रखने वाले सभी विद्वानों/समाजसेवियों से आग्रह है कि वे विगत 5 वर्षों में प्रकाश में आई जैन इतिहास/पुरातत्व विषयक मौलिक शोध कार्यों के संकलन, मूल्यांकन एवं सम्मानित करने में हमें अपना अपना सहयोग प्रदान करें।

देवकुमारसिंह कासलीवाल
अध्यक्ष

डॉ. अनुपम जैन
मानद सचिव

I.S.S.N. 0971-9024

अर्हत् वचन भारत सरकार के समाचार-पत्रों के महापंजीयक से प्राप्त पंजीयन संख्या 50199/88

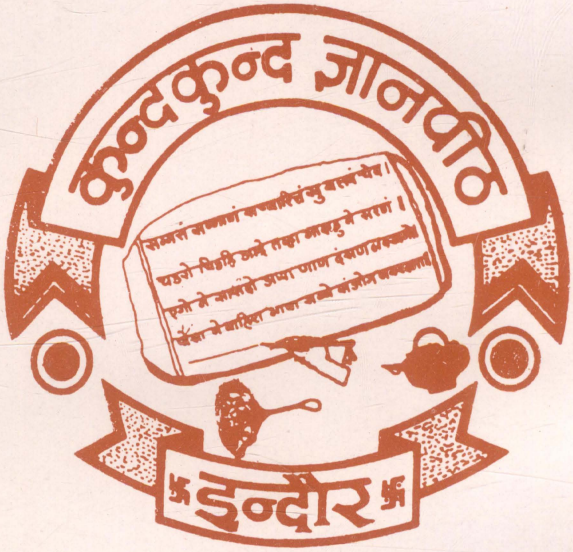

स्वामित्व श्री दि. जैन उदासीन आश्रम ट्रस्ट, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर की ओर से देवकुमारसिंह कासलीवाल द्वारा 584, महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर से प्रकाशित एवं **सुगन ग्राफिक्स**, सिटी प्लाजा, म.गा. मार्ग, इन्दौर फोन : 538283 द्वारा मुद्रित।

मानद् सम्पादक - **डॉ. अनुपम जैन**